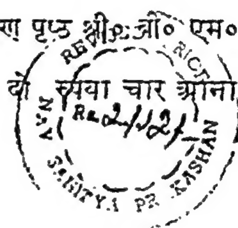
प्रथम संस्करण

नवम्बर १९५५

आवरण पृष्ठ श्री ओ० एम० आनन्द

दो रुपया चार आना



प्रकाशक :

नव साहित्य प्रकाशन

६२७६, मुलतानी ढाँडा

नई दिल्ली-१

मुद्रक :—कुमार फाइन आर्ट प्रेस, चाह रहट, दिल्ली।

साँची कहूँ
तो
जग ना मानै
झूठी कहूँ
तो
मन ना मानै

" What is meant by 'reality' ? It would seem to be son thing very eratic, very undcpendable—now to be found a dusty road, now in a scrap of newspaper in the stre now in a daffodil in the sun. Ir lights up a group in a roc and stamps some casual saying. It overwhelms one walking home beneath the stars and makes the silent world more real than the world of speech and there it is again in an omnibus in the uproar of piccadilly "

Virginia Woolf-'A Room of One's own'

कारनीवाल में मंगली फंस गया। एक का नोट लगाया और सौ का नोट आ गया। ये तो सब अपनी अपनी नसीब-अजमाई की बात है। समझे!'

केशो ने हुंकारा भरा और तै हुआ कि मांगी राम के साथ वह भी शहर की ओर चल पडेगा। साथ में कितने रुपये लेकर चला जाय इसके बारे में बहस हुई। यह भी सोच लिया गया कि तीस रुपये काफी होंगे।

मांगी राम वैसे ही आवारा नंबर एक के थे। बोले—बीस मेरी ओर से मिला ले। ५०) काफी हैं। दो परानी तो हैं ही। करना ही क्या है?

केशो यों अंटी में ५०) लिये, कुछ गिन्ती के कपड़े एक बिस्तर में बाँधे वक्त से दो घंटा पहले स्टेशन पर आ पहुँचा। मांगी राम साथ थे ही।

केशो ने अपनी छोटी सी गिरस्ती से विदा ली तो लड़की चम्पा की आंखों में आँसू आ गये। आठ बरस की यह लड़की ही उनकी जिन्दगी का एक मात्र संबल थी। चम्पा से पहले और बाद में दो-तीन संतानें हुईं, वे जी न सकीं। चम्पा की मां के मन में लड़के का मुंह देखने की चाह बाकी बनी ही रही।

मालवे का काली मिट्टी वाला छोटा सा गाँव। वहीं भेरु का लड़का केशो बचपन से बड़ा हुआ। पढ़ाई-लिखाई के नाम पर बचपन के पाठशाला में जो भी चार अक्षरों से परिचय हुआ वही समझो। वर्ना लिखने पढ़ने के नाम पर कुनबे में वैसे ही कौनसी खास हौंस थी, सन् बीस के दिनों में। और तिसपर यह रियासत म पड़ा हुआ पिछड़ा हुआ गाँव। बापने कुछ जमीन की काश्त, बड़ी मेहनत से, अपने

की धारा में एक छोटा सा युग ही है। उसे तो धारा में रखकर देखना चाहिये।

प्रस्तुत कथा द्वापर की है। उस समय इस देश में राजतन्त्र के साथ गण भी थे। इनकी विभिन्न परिस्थितियाँ भी थीं। मैंने उनका भेद और साम्य दोनों ही प्रगट किये हैं।

इनके अतिरिक्त जातियों का परस्पर सम्मिश्रण, वर्ण, आश्रम, तथा तत्कालीन राजनैतिक विचारधाराओं पर भी मैंने प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

आजकल जो पुराण और महाभारत के रूप मिलते हैं उन्हें परवर्ती ब्राह्मणों ने काफी अपनी स्वार्थ-साधना के लिए बदल दिया है। परन्तु उसे यदि आरण्यकों, ब्राह्मणों और वेद से मिलाकर देखा जाये तो काफी असंगतियाँ दूर हो जाती हैं। स्वयं महाभारत में दो रूप हैं। एक प्राचीन, दूसरा स्पष्ट ही परवर्ती है। दोनों इतने स्पष्ट हैं कि उनका भेद समझना कठिन काम नहीं है।

उस युग का वर्ग-संघर्ष आज की विचारधारा के अनुसार नहीं न वे समझते ही थे कि समाज का वैज्ञानिक विश्लेषण कैसे किया । उनके अपने ही विश्वास थे। आज जो हम अपने को देख रहे उनके कई शताब्दियों बाद की बात है। इसलिये कहीं भी वातावरण को मैंने विकृत नहीं किया है।

वास्तव में द्वापर एक बहुत ही महत्वपूर्ण युग था। उसके बाद ही राजन्यों के युद्ध ने आर्यों को निर्बल बना दिया। इसी के बाद पुराणकार ब्राह्मणों ने कलि का आगमन भी बताया है। अनार्यों की शक्ति बहुत बढ़ गई।

इतिहास गहन विषय है। इसमें भूलें अवश्य होंगी। विद्वान उनका सुधार करें। मैं अनुगृहीत होऊँगा।

रांगेय राघव

केशो को बीड़ी की बुरी आदत लगाई। जसमन्ती को तो मांगी राम फूटी आंखों नहीं सुहाता था। पर केशो हैं कि आव देखे न ताव, वक्त देखें न साहत, सदा मांगी राम को लिए चले आ रहे हैं।

जसमन्ती तो केशो से कहती यह तुम्हारे मांगी लाल या मांगी राम पूरे मंगते हैं ! जब देखो तब आकर डटे हैं।

केशो गिड़गिड़ाते—'देखो चम्पाकी माँ ! और कोई सुख कपार में नहीं है तो ये दोस्तों से दो बातों का मजा मिलता है। इसे काहे छीनती हो ?'

'राम भला करे तुम्हारी ये दो बातें हैं या शैतान की आंतें हैं !'

'शैतान की आंतें ही सही, तुम्हारा तो हम कुछ नहीं बिगाड़ते हैं।'

'वो मांग्या आकर दुनियां भर की बुराई करने बैठता है और तुम माटी के माधो की तरह हाँ में हाँ मिलाते हो। तुम्हें जरा भी समझ नहीं। पड़ोस की जमना कह रही थी कि मांग्या जैसा बदमाश सारे गांव में और कोई नहीं है।'

केशो धीर गम्भीर दार्शनिक की तरह कहते—'होगा—होगा ! हरेक की अच्छाई-बुराई उसी के साथ जाती है। हम क्यों किसी के लिए बुरे बनें ?'

जसमन्ती फिर भी उसे आगाह करती—'मैं कहे देती हूँ एक दिन ये अपने सारे कुनबे को ले डूबेगा। अब लड़की इतनी बड़ी हो गई, उसके ब्याह का फिकर करो। उस भुक्खड़ के साथ दुनियाँ भर की बुराइयां करते-फिरने से क्या मिल जाने वाला है ?'

बात वहीं रह गई, क्योंकि मांगी राम आ गये थे—और जोरों से बाहर से पुकार रहे थे—केशो, ओ केशो !

'आया, भाई, आया' और केशो अपनी तम्बाकूबाज़ों की पार्टी में जा अटके।'

सो जब स्टेशन पर केशो पहुंचे तो उनकी आंखो के सामने चम्पा की बड़ी बड़ी आंखों में काजल की रेखा सी बनाते, ढुलकने वाले आंसू और सिसकियों का बंधा तार साफ दिखाई देता था। केशो अपनी बहू से पहली बार इतने दिनों के लिये दूर जाने वाले थे। जाते वक्त कह गये थे कि नोकरी मिल गई तो आकर तुम सब को साथ ले ही जाता हूँ। और नहीं मिली तो वहाँ कोई हमेशा के लिए थोड़े ही रहने वाला हूँ। अभी आता हूँ घर पर।'

चम्पा की माँ ने बार बार याद दिलाई—खत जरूर लिखजो! '–हां, हां, केशो ने ढारस बंधाया। पर ढारस है कि वह नहीं बंधा। विदा के वक्त ढारस साहस, हिम्मत आत्मविश्वास एक बालू की तरह जाते हैं, बल्कि पारे की तरह, उन्हें बांधने पर भी वे बंध नहीं पाते।

सो मांगी राम ने जब बीड़ी देकर माचिस मांगी तब तक केशो अपनी पगड़ी को संभालना भूल कर घर की याद में उलझे थे। मांगी राम ने एक धौंस जमाते हुए कहा—'शहर में ये ऐसी पग्गड से काम थोड़े ही चलेगा, वहां तो तुम्हें टोपी पहननी होगी, टोपी।'

'कैसी टोपी ?'

'जैसी तुम पहनना चाहो। वहां सब रंग की टोपी चलती है।' 'ऐसे पगड़ी पहन के जा ओगे तो तुम्हें कोई पास आने ही नहीं देगा। नौकरी कौन देगा।'

'अच्छा ?'

केशो मांगी राम की हर बात को ऐसे स्वीकार कर लेता था, जैसे

ब्रह्म वाक्य हो। मांगी राम भी केशों के इस अनन्य और अटूट विश्वास को अच्छी तरह जानता था और उसका खूब फायदा उठाता था।

शुजारुपुर मंडी का स्टेशन तब बहुत छोटा सा था और गाड़ियों में आज की तरह भीड़ नहीं हुआ करती थी। दोनों ने इन्दौर के टिकट लिए और चल पड़े।

रास्ते में उज्जैन पड़ता था। सो मांगी राम ने प्रस्ताव रखा कि मासाहब की धर्मशाला में सामान रख देंगे और उज्जैन देख आयेंगे। बड़े गनेस जी और महाकाल के दर्शन से आगे काम में बड़ी सफलता निश्चित मिलेगी।

वैसे केशो का एक भाई मगरमोहे और कार्तिक चौक की एक बीच की गली में रहता था और उससे भी वह मिलना जरूरी समझता था।

रेलगाड़ी में बैठने का केशो का यह दूसरा-तीसरा ही मौका था और उम्र में बड़े होने पर भी बच्चे की तरह वह हर चीज में एक कुतूहल और अचरज पाता था। बार-बार पूछता जाता—'मांगी—यह क्या है?' 'यह कौन है?' "ऐसा कैसे हो जाता है?'

बीच में जब बहुत देर तक मांगी सो गया और खिड़की के बाहर भी देखने लायक कुछ नहीं था—रात घिर आई थी—तब केशो को बहुत कोशिश करने पर भी नींद नहीं आती थी। उसकी आँखों के सामने शहर तैर रहा था—जादू का देश बनकर। नाग कन्याएँ—राजकन्याएँ—पन्ने के और मूंगे के राजा—अशर्फियां के ढेर के ढेर, सोने की वर्षा—चांदी की धोती और मखमल का पाग पहने वह घोड़े पर बैठा वैसी ही मूछों को मरोड़े दिये जा रहा है जैसे कहानियों में डाकू उद्यमसिंह की सुनी थीं—और फिर दृश्य बदलकर एक सफेद पोश

बबुआ जिन्दगी का नक्शा सामने खिंच जाता—वह शहर से गांव को लौट रहा है–एक बड़ी सी गुड़िया चम्पा के लिए लाया है और जसमन्ती को मुट्ठी बंद करके पूछता है—"बूझो, तेरे लिए क्या लाया हूँगा ?'

'कान के बुन्दे होंगे ?'

'नहीं !'

'फिर, गले का कण्ठा होगा ?'

'नहीं !'

'आखिर है क्या ऐसी बड़ी चीज और इतनी छोटी सी ?'

शहर में मिलने वाली सुन्दर होने की दवा थी। तो क्या चम्पा की माँ इस उम्र में और सुन्दर होगी ? 'हिश्त्—बड़े वैसे हो !' शर्म से ललाई कानों के मूल तक छू जाती है। –और गांव भर में बड़ा रोब है अब केशो निरे केशो नहीं रहे, अब बाकायदा श्री केशवराम बनकर बबुआई हवा लगकर शहर से लौटे हैं। कपड़ों में भी कलप लग गया है, कुर्ता नये काट का है और अब अगले ही हफ्ते सपरिवार शहर जाने वाले हैं.....

पर यह सब दिवास्वप्न है। खर्रर्र···खच्च–ट्रेन रुक गई। शायद कोई अभागा जानवर इंजन के नीचे आ गया।

डिब्बे वाले जग पड़े। हड़बड़ाहट हुई।

एक बूढ़े ने खांसते-खाँसते कहा–"जानवर ही था ना ? आदमी तो नहीं था ! जाने दो !"

और ट्रेन फिर चल पड़ी। रेल जैसी निर्भय और कोई लोहे की चीज न होगी। दो पटरियां हैं कि जिन्दगी भर एक दूसरे से बंधी रहकर भी एक दूसरे से सदा अलग हैं–इंजन है कि उसे डिब्बों के अंदर

क्या है इसका पता नहीं। और डिब्बे हैं कि उनके लिए इंजन एक रहस्यवादी कविता से कम नहीं है।

और केशो गाँव छोड़कर शहर जा रहे हैं जिसकी पहली मंजिल उज्जैन आ पहुँची।

जब मनोहर ने दर्शनशास्त्र में एम० ए० अपनी मर्जी से कर डाला, तो उसके भाई वन्दो को कोई आनन्द नहीं हुआ। वे चाहते थे कि छोटा भाई बड़ा वकील, बालिस्टर बनता, कोठी-बंगला बनवाता, बगीचे में माली काम करते रहते, मोटर और ड्राइवर पुकारते ही हाजिर होते और शहर के हाकिम चाय पर बुलाते। पर भला यह सब रुतबा बेचारे दर्शनशास्त्र की ऊँची डिगरी में कहां?

और दर्शनशास्त्र की दूसरी खराबी यह थी कि मनोहर आवश्यक रूप से बेहद गंभीर और विचार मग्न मुद्रा लिए चलता। किताबों का कीड़ा वह आदर्शवादी युवक दुनियां में किस काम का था?

जब नतीजा आया और पता चला कि मनोहर युनिवर्सिटी में अव्वल आया है, तो उसको मन ही मन में खुशी हुई। गुदगुदी सी हुई। उसे लगा कि मनोविश्लेशन शास्त्र पर उसका लिखा हुआ आठवें पर्चे में का निबंध सचमुच रंग लाया है। पर यह खुशी वह कहता किससे? बड़े भाई साहब एक रियासत के गांव में दलाली का काम करते थे। बड़ा कुनबा था—पर वहाँ दर्शनशास्त्र तो दूर किसी भी शास्त्र को जानने वाला पढ़ा-लिखा कोई आदमी नहीं था। घर में एक बाल विधवा पागल बहिन थी। और कोई ऐसा नहीं था, जिससे गांव में वह बातें कर सकता था। पर हां, थोड़ी दूर पर भीलों में काम करने वाले एक मिशनरी रेवरंड फादर डिक्सन रहते थे। उन्हें मनोहर कभी-कभी मिल जाता तो वे उससे बहुत सी बहस करते, और लड़के के खुले दिमाग और उदार विचारों से बहुत खुश होते।

फादर डिक्सन की जीवनी एक रोमांचकारी कथा थी। अब तो वे चालीस की उम्र पार कर चुके थे। पर जब वे नौजवान रहे होंगे, अवश्य शक्ति और सौन्दर्य उनके पास बड़ी मात्रा में रहा होगा। इस वक्त तो वे और उनकी जवान लड़की लिजा यहीं साथ रहते। सेवा भाव में उनकी जिंदगी बीती थी। भीलों के बारे में जितना वे जानते थे, शायद ही और कोई भारतीय भी जानता।

मनोहर के प्रति फादर डिक्सन को भी बड़ा स्नेह था। ऐसा होनहार, बुद्धिमान, नौजवान उन्हें उस प्रदेश में कम मिला था। न केवल दर्शनशास्त्रीय मसलों पर उनसे बहस होती पर जिन्दगी के और भी कई पहलू थे जिन पर दोनों में बार-बार बहस हो जाया करती।

एक दिन सवेरे की चाय पर जब डिक्सन ने मनोहर को बुलाया, तब लिजा भी वहां थी। सुनहले बाल, ऊंचा माथा, नीली आंखे, बहुत सुकोमल नासा और ओंठ, गोरे वर्ण—लिजा जैसे किसी संगमर-मर की प्रतिमा की तरह दिखाई देती। रोदां का शिल्प 'दुःख' देखा है न, उसी की तरह। तो उस दिन बहस चल पड़ी पश्चिम वालों की भारत के प्रति उच्चता की भावना को लेकर। मनोहर ने कहा—'आप मिशनरी लोग आदिवासियों में जो काम करते हो तो असल में आप उन्हें वैसी ही जाहिल, निरक्षर, असभ्य और पिछड़ा हुआ बनाये रखना चाहते हो; इसलिए यह सब काम करते हो—उनके फोटो खींच कर बाहर की दुनियां को बताते हो कि भारत ? ऊंह—वहां तो अर्द्ध-नग्न लोग बसते हैं। यह कब स्वराज्य के काबिल हैं ? बेकार है यह देश। अफ्रीका से भी यह गया बीता है। यही श्रेष्ठता का व्यर्थ का भाव आपके मन में काम करता रहता है।'

फादर डिक्सन मुस्कराये और बोले—'यह बात नहीं है। हमारे इरादों पर क्यों संदेह करते हो मनोहर ? हम ही थे कि कौन से अख्यात

नाम दूर के परदेश में जाकर हमने इन खूंखार आदिवासियों के बीच डेरा डाला। डरे नहीं। न बीमारियों से, न वन्य पशुओं से और न पशुओं से भी जिघांसु आदमियों से। हम बराबर डटे रहे। कोई आस्था थी, कोई शक्ति थी जो बराबर हमारे भीतर यह भावना बनाये रही कि हों ये जंगली और पिछड़े हुये और गए-बीते। पर हमें कौन सा हक है कि हम मानव को हेय समझे। जो प्रभु ईशु की संतान हैं, वह सब भाई-भाई हैं। हम तो सिर्फ इसी विचार से यहां आये और यहीं के हो रहे।'

मनोहर ने कहा— फिर भी जैसे ये भील हैं—क्या इन्हें आपने कभी सुधारा ?'

' फादर डिक्सन इस बार चुप रहे। लिजा ने आवेश से कहा— 'सुधारने का क्या मतलब ? हमने उनके लिए स्कूल खोले। दवा दारू के लिए अस्पताल खोले जो लड़कियां ही ईसाई बन गयीं उन्हें नर्स बनाया।'

मनोहर भी बहस करने पर तुला था। बोला— 'यह एक बहुत अच्छा किया आपने। पर फादर डिक्सन; मान लीजिये कल एक भील पढ़ लिखकर आपकी लड़की लिजा का हाथ शादी में मांगे। आप देंगे ?''

'एब्सर्ड'—फादर के मुंह से निकल गया।

'नानसेनस'—लिजा ने कहा—ऐसा हो ही कैसे सकता है ? मैं इस देश की रहने वाली कहाँ हूँ ? मैं तो सात समुद्र पार लौट जाऊंगी।'

मनोहर ने मुस्कराते हुए व्यंग भरे स्वर में कहा—'जैसे प्रेम की शक्ति आज तक समुद्रों को पार नहीं कर सकी है · क्यों ?'

लिज़ा के मुंह पर लाली दौड़ गई। लज्जा से उसके कर्णफुल और नथुने आरक्त हो उठे। फादर डिक्सन ने विषय बदलते हुए कहा—'एम० ए० का नतीजा आ गया ?'

'हां, मैं फिलासफी में अव्वल आया हूँ !'

'तो फिर आगे क्या करने का इरादा है ?'

'मैं नहीं जानता। सोचता हूँ—क्या करूं ? हम तो गरीब लोग ठहरे—हमारे लिए कोई अर्जित-संपत्ति हमारे बाप दादे तो छोड़ नहीं गये हैं। हाँ, आज कल यही एक रास्ता बचा है—नौकरी !'

और नौकरी शब्द से उसके मन में जैसे कड़ुआहट तीखी हो आई। सारा मन मानों मितली से भर उठा। नौकरी शब्द के साथ ही उसके मन में कई चित्र एक साथ जमा हो गये, घिघियाते हुए चपरासी, बोझ से दबे गये, सिर पर का भारी जूआ उठाने को असमर्थ मरियल बैल, जिसकी चौराहे पर अंगप्रसंग देखकर बिक्री होती थी ऐसी दासी, अफसर की घुड़की, चमकते हुए पालिश किये बूट की ठोकर, संताप मिश्रित व्यथा के मौन घूंट, दबी हुई आहें और मालिक की मर्जी पर दिन को रात कहनेवाला खुशामदी अहलकार—माहवार तनखा के कलदार, संकल्पों का हनन, धीरे-धीरे एक मशीन का पुर्जा बन जानेवाली मस्तिष्क की चेतना ! उसके मन में जो सपनों के शीशमहल किसी जनम-जनम से पाल पोसकर खड़े किये हुए सुकुमार शेखचिल्ली की तरह बनाये थे—उन्हें ठेस पहुँची—झन्न से हाथी दांत की मीनार चूर-चूर होकर गिर पड़ी। हर आइने खंड में मुंह बिचकाता, झुर्रियोंवाले चेहरे का मनोहर का प्रतिबिंब जैसे उसे चिढ़ा रहा था। मनोहर, मनोहर, तुम स्वतंत्र हो—कल से तुम गुलामी का तौक़ पहनना चाहते हो ?...

यह सब वह थोड़े से क्षणों में देख गया। उसे लगा कि उस

वंभातिक हवा में किसी ने जलते मुर्दे की वास भर दी; जैसे उस सुनहली धूप में खेलती हरियाली में फुदकती गौरैय्या के पांव किसी ने नोंच डाले; जैसे दूर पर बहनेवाला पहाड़ी झरना उलटे पैरों पहाड़ में सिमिट गया और ठंडा हो गया—जम गया। जीवन के तितलीपंखी अर्थ में जैसे सौ सौ मन लोहे के प्रलय-लंगर लग गए। स्वप्नों का सागर बिखर गया, बालुका में आकांक्षा की मदिरा छितर गई।

तभी लिज़ा ने जैसे उसे याद दिलाया—'मनोहर, आप ऐसे उदास क्यों हो गये। क्या नौकरी का खयाल आपको सूट नहीं करता?'

फादर डिक्सन स्नेह भरे शब्दों में बोले—'ओह' मनोहर दार्शनिक तबीयत का आदमी है। उसे यह सब करीयर-सीकिंग.....'

मनोहर फिर भी चुप था।

लिज़ा ने कहा—'छोड़ो भी। कहां आने वाले दिनों के लिए मन में व्यर्थ की चिन्ता करते हो। मुझे एक बात बताओ कि उस दिन जो हमारे बगीचे के फूल आप ले गये थे, वे आपको पसंद हैं?'

मनोहर ने जैसे तंद्रा से जागते हुए कहा—'हां, बहुत सुन्दर फूल थे। पर ...'

लिज़ा को उन्हीं फूलों के लिए उठकर जाते हुए देखकर मनोहर मना करते हुए बोला—'नहीं नहीं, लिज़ा..तुम उन्हें लेने फिर मत जाओ! मैं, मैं अब फूलों को लेकर क्या करूंगा?

'क्या बात है जो आप अन्य हर अच्छी चीज के बारे में यों सोचते हैं, जै अकाल वैराग्य हो गया हो। क्या बात है? आपकी तबीयत खराब है?'

'नहीं-नहीं। मैं सोच रहा था कि अगर फूल..फूल आप नहीं ही दें तो अच्छा है। फूल की हर पांखुरी के साथ जिम्मेदारी बढ़ती है।'

फादर डिक्सन बोले—'और नौजवान जिम्मेदारी से कतराते रहते हैं।

मनोहर ने चुनौती स्वीकार की—'यह बात नहीं है फादर ! मैं कह रहा था कि फूल होते तो हैं सुकुमार, देखने में छोटे, पर उनका लेनेवाले के दिल पर पड़नेवाला असर बहुत गहरा होता है, बहुत टिकनेवाला, दूरगामी !,

फादर डिक्सन—'तो उसमें क्या बुराई है। यंग मैन। लिजा तुम्हें फूल ही तो दे रही है। दिल तो नहीं दे रही।'

मनोहर ने जैसे मन में कहा—'शायद मैं दोनों चाहता हूँ।' पर फिर उसकी जबान पर जैसे ताला पड़ गया। क्या यह कभी संभव था ? विदेश की इस रूपवती कुमारी के साथ मनोहर का हमेशा के लिए रहना। यह हो नहीं सकता था—तीन काल और तीन लोक में असंभव। चाहें आकाश से कोई और आश्वासन की वाणी गरजती हो—नियति की ऐसी प्रवंचना में प्रज्ञावान मनोहर कभी विश्वास नहीं कर सकता था। लिज़ा और वह ? वह और लिज़ा ? असंभव—दो ध्रुव, दो छोर ! दो ऐसे साहिल जिनके बीच में समुन्दर हो, जो लहरा रहा हो—इस शान्त समतल बहनेवाले सागर की सतह को वह मिटाना नहीं चाहता था। वह एक नया तूफान खड़ा करना नहीं चाहता था।

लिज़ा ने फूल ला दिये। उसने अपने खद्दर के रूमाल में ले लिए।

फादर डिक्सन ने कहा—'मनोहर ! आप खद्दर नैष्ठिक रूप में पहनते हैं ?'

मनोहर—'हां यह हमारी आजादी की वर्दी है। मैं आध घण्टा

कातता भी हूँ। मैं समझता हूँ चार घण्टा चिल्लाकर लेक्चर देने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा उद्योग है। और अब तो गांधी जी ने रोक लगा दी है—'जो काते सो पहने। जो पहने सो काते !'

फादर डिक्सन ने मनोहर से पूछा—'क्या आपने गाँधी जी को कभी देखा है ?'

मनोहर ने कहा—'नहीं। मैंने उन्हें देखा नहीं। पर वे हमारे राष्ट्र के जीवन में रोम-रोम में व्यापे हुए हैं। वे उससे अलग नहीं किये जा सकते। उन्होंने हमारे यहां के किसान को, जो झुका हुआ, दबा हुआ और जमीन से मिला हुआ था रीढ़ की हड्डी, तनकर खड़े होने का मेरुदंड, एक संकल्प का मंत्र दिया।'

लिज़ा ने कहा—'मैंने सुना है, गाँधी जी स्टेशन पर से गुजरेंगे। आप चलोगे मेरे साथ ?

मनोहर ने कहा—'फ्रंटियर रात को बहुत देर से स्टेशन से गुजरती है। असल में आपको तो कांग्रेस का अधिवेशन देखना चाहिये। इस तरह ट्रेन से गुजरते हुए उन्हें दो मिनट के लिए देखने में क्या धरा है ?

फादर डिक्सन ने कहा—अगली कांग्रेस में हम भी चलेंगे।

मनोहर ने सुझाव दिया कि अगली कांग्रेस पर भीलों का एक पूरा सांस्कृति कार्य-क्रम बनाकर फिर चला जाय। कांग्रेस अधिवेशन के साथ कुछ काम भी हो जायगा।

यह वायदा कर मनोहर घर लौटा कि देखा मित्र शरण का तार आकर पड़ा है—'अगले हफ्ते इन्दौर आ जाओ। नौकरी देंगे।'

मित्र शरण मनोहर के साथ दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी रह चुके थे। और सज्जन, सहायता करनेवाले, सहृदय व्यक्ति थे। मनोहर ने तै किया–घर वालों को बताना व्यर्थ है। किसी दिन इन्दौर के लिए चल देंगे। घरवालों को 'सरप्राइज' देंगे।...

[३]

केशो और मांग्या उज्जैन-उनकी भाषा में 'उज्जीण' ठेसन-उतरे तो अचरज में पड़ गये। केशो ने शहर बहुत कम देखे थे। बल्कि बचपन में कभी शायद वह एक बार उज्जैन अपने नाना के साथ आया था पर कमलों से भरे तालावों को छोड़कर उसे कोई याद बाकी नहीं थी।

स्टेशन से उतरते ही वह मासाहब की धर्मशाला में गये। वहाँ गरीब मुसाफिरों को सीदा भी मिलता था। वह लेने का प्रस्ताव मांग्या ने रखा, तो केशो बोला–तुम आखिर मांग्या के मांग्या रहे। हमेशा मांगने वाले! सीधे से अपना काम कैसे चलेगा।

मांगी राम बोले–डब्बल तो अंटी में नहीं है और भीख से परहेज करने चले हैं!'

केशो में अभी कुछ धरम-करम का लिहाज बाकी था। बोला–ऐसे हट्टे-कट्टे होते हुये बिना मिहनत-मशक्कत किये भीक का खाना, मुझेतो शरम लगती है!

मांगी राम ने समझा दिया-गावदू ये शहर है शहर! यहाँ सब कुछ जायज़ है। यहाँ बड़े पढ़े-लिखे जंटरमेन लोग भी यही धंदा करते हैं! सुना है जेब काटते हैं!

केशो ने भोलेपन में पूछा–काम नहीं करते!

मांग्या ने शरारत भरी हंसी हंसकर कहा–यह भी कोई काम नही है क्या! बड़ी चतुराई का काम है। और बिना पूंजी का काम है।

तांगे से कोई गुजराती परिवार उतर रहा था। उसमें की एकभद्र-महिला का पर्स उसने हाथों हाथ नजर चुराकर उठाली पेशाब, करने के बहाने वह दूर झाड़ियों में गया, और फेंकदी-उसमें की कैश हथिया ली।

केशो की आत्मा जैसे सिहर उठी। वह सोचने लगा कैसे चोर उचक्के के साथ आगये! बुरा हुआ। पर अब कदम एकबार उठा लिया है तो लौटना असम्भव है।

केशो और मांगी राम सिपरा पर नहा-धोकर महाकाल पहुँचे। शाम को इंदौर जाने वाली गाड़ी थी। और एक ही दिन में सब तीर्थ उन्हें देख लेने थे। सिप्रा के घाट से कई मन्दिरों के शिखरों को ही प्रणाम किया। उस पार वे नहीं गये। दत्तगुरू के अखाड़े से भी उन्हें कोई मतलब नहीं था। महाकाल पहुंचे तो पहले रास्ते में बड़े गणेशजी मिले आज तो एक यह गणपति का मंदिर बहुत संभले हुये सुधरे हुये रूप में है, पर उन दिनों सिंदूर पुता हुआ यह विराट गणेश बहुत भयप्रद चीज थी। देखकर एक बारगो केशो डर गया।

पुजारी ने कहा—ये गणपति जी हैं सकलसिद्धिदाता, विघ्नहर्त्ता मोदकप्रिय, उन्हें दक्षिणा चढ़ाओ, सकल मनोरथ पूर्ण-काम होंगे।
केशो ने अंटी से पैसा निकाला। और चढ़ाया। यह गाढ़ी कमाई का एक पैसा-भला उस सिंदूर की पुट चढ़े हुये महादेवता का जरा भी ध्यान खींच सकता है। वह देवता जो कि सदा से मिहनत, कमाई पसीना आदि से दूर तोते की तरह धर्मग्रंथ की रटन पर जीने वाले चर्बी के लोदे जैसे पुजारियों की तन्द्रालस्यनिद्रा का ऐकान्त पहरेदार अहर्निशी खुली आंखों से देखने वाला साक्षी हस्तिमुख न जाने कितनी सदियों से बैठा है।

केशो को सबसे विचित्र जान पड़ा मनवाकार विशाल चूहा जो उस गण-देवता के चरणों पर बैठा हुआ—गणेश जी के हाथों में रखे लड्डुओं के बड़े भारी ढेर को टुकुर—टुकुर ताक रहा है पिपासित आंखों से। उसकी आखों में निर्निमेष देखते—देखते एक तरह की प्रेत जड़ता आ चुकी है। यह चूहा नहीं शायद आदमी ही है।

केशो नहीं जानता कि जब चूहा सबसे पहले गणेशवाहन बना तो वह इस लिए कि किसी आदिम जाति के खेतों में इस प्राणी ने बहुत बड़ा उत्पात मचाया और उसे प्रसन्न करने के लिये उसे गण के देवता का वाहन बना दिया। पर दरोगा बना देने से,या वाहनों का इंचार्ज सचिव बना देने से उसकी मुफ्त खाने की आदत कम थोड़े ही हो जाती है !

चूहे और आदमी ! चूहे जैसे आदमी...........

केशो इसी पशोपेश में पड़े थे कि क्या धर्म की महिमा है। देवता के संपर्क से चूहे तक पुज जाते हैं कि मांग्या ने उसे धौंस दी और कहा-इस को कोटि तीर्थ में हाथ पैर धोलो। बेलपत्री लो और अंदर नीचे चलो।

'महाकाल, महाकाल।' जय शिव शंभो !, शंकर, 'शंकर, 'कांटा लगे न कंकर।' कहते हुए कई भक्त भद्र-गण निरंतर उस अंधी सुरंग में से चले जाते थे। और चींटियों की तरह बाहर चले आ रहे थे। चींटी के मुँह में चीनी का दाना होता है, जो वह अपने गाढ़े दिनों के लिए संग्रहीत कर रखती है। पर बेचारे इस उपासक के हाथ में सिर्फ भस्म की पुड़िया होती है, जो अगले जन्मों के लिए शायद पुण्य-संचय के काम आये। पर वहां चींटी के लिए चीनी का दाना ठोस है और उसकी जीविका भी उसके निकट एक मूर्त वस्तु है, पर भक्त के लिए चिंता भाव भी उतनी ही अमूर्त है जितनी कि उससे पाई जाने वाली फल कामना। यहाँ सब भावना का खेल है।

अंधेरे छोटे से गलियारे से गुजरते हुए बेलतीर्थ-पानी से चिपचिप पैरों को

फिसलते बचाते, केशो जब उस दम घोट देने वाले महालिंग की "सालुका" के पास पहुँचे, तो अखंड महित जाप, अभिषेक,नामघोष से कान बहरे हो जाते थे, सांस में चंदन,कपूर, सड़े हुये बेलपत्र और परिजात के फूलों की मिश्रित गंध उसमें और भी विस्मयतंक भर दे दे रही थी। तभी शिवजी के पैर दबाने के बहाने भक्त जन उसके आस-पास की बड़ी भारी सर्प युक्त पीठिका पर झुक रहे थे। तो मांग्या भी झुका और उसने फिर हाथ जोड़ कर आंखे मूंदकर। शिव-शंकर,शिव-शंकर,जोरों से नाम-घोष किया प्रदक्षिणा के लिए अंधेरे में कुछ कमर खुजलाने लगा। और पुजारी से तीर्थ प्रसाद लिया। और बाहर चला आया।

जब सीढ़ियां चढ़कर, लंगड़े लूले भिखारियों की साग्रह गिड़गिडाहट से बचकर खुले आंगन में आये तो मांग्या ने अपनी कमर से धोती की काँछ की गाँठ से एक चमकदार कलदार निकाला और आंखे चमकाकर बोला—'केशो ! यह महाकाल देवता का प्रसाद है।'

केशो हत बुद्धि सा, काठमारा सा पथराया खड़ा रहा—वह कुछ बोल नही पाया। मानों वह यह कहना चाहता था कि तुम्हारी ऐसी हिम्मत कैसें हो सकी ? देवता की चढ़ाई में से चोरी से सिक्का उड़ा लेना महापाप —

पर मांग्या ने जैसे उस पाप को बदन पर चढ़ने वाले झींगुर को जिस तरह चुटकी से उड़ा देते हैं। उसने सहज हल्के भाव से कहा—इसमें कौनसा पाप है ! केशो तुम बुद्धु के बुद्धु रहे—शहर में तो यह आम रिवाज है। एक आदमी दूसरे की जेब के पैसे अपनी जेब में कैसे ले आये—उसकी आँखों में धूल फेंककर, हाथ की सफाई से — यही तो सब विद्या यहां पढ़ाई जाती है। जो जितनी चतुराई से दूसरे की जेब से पैसा निकाल सकता है, उतना ही बड़ा व्योपारी उतना ही

बड़ा वकील-बालिस्टर' उतना ही बड़ा डाक्टर कहलाता है ! यहां पढ़ाई-भढ़ाई सब इसी बात की होती है। समझे।

केशो को और एक नए रहस्य का पता चला। अब तक उसका विश्वास था कि पढ़ाई-लिखाई के स्थान ये मन्दिर, ये बड़ी बड़ी कार्यालय की इमारतें— 'बड़े पवित्र स्थान हैं। ऐसी जगहें हैं जहाँ मनुष्य में जो कुछ अच्छा और गर्व करने योग्य है, उसे उभार मिलता है, उसे बढ़ावा मिलता है, —उसकी धार तेज की जाती है। पर आज पता चला कि यहां पाप और पुण्य की सीमा रेखा मिटाई जाती है, विवेक की धार थोरी की जाती है, स्वार्थ की रोटी दूसरे की चिता पर सेकी जाती है, गला काटने की सफाई का नाम ही परोपकार है। केशो को शहर में पद पद पर अपने मन में बड़ी जतन से सम्भाल कर रखी हुई व्याख्यायें और परिभाषायें अमूल बदलती पड़ रही थी। वह नहीं सोच पाता था कि आदमी भी इतना बुरा हो सकता है।

मसलन यही एक छोटी सी घटना ले लो। एक बेचारी बुढिया भगतिन उस शिव की पिंडी पर अपनी संचित कमाई का एक रुपया रखती है। और मांगी राम उसे उड़ा लेता है—बेल पत्रों का अम्बार और आस पास के भीड भडक्के और धुंधली रोशनी का फायदा उठा कर—इस पाप के लिए वह कहाँ कहाँ जवाब देता फिरेगा। केशो के भोले मन ने मन ही मन सजा दे दी कि इसे तो कुंभीपाक नर्क भी कम होगा। इसकी आँखें निकलवा कर, इसके साथ बर्बर, नृशंस व्यवहार करेंगे, चित्रगुप्त के घर—

पर मांग्या का मन इतना कोमल नहीं है। नाही उसे इन सब बातों का मलाल है। वह मजहब के नाम पर होने वाली मक्कारी से सुपरिचित है वह बोला—'क्या एक रुपये को ले बैठा है भांग्या ? अब ये साधु ही देखो। सब के सब गांजा—चरस-अफीम-भंग-शराब में पैसा खर्च

करते हैं। ये भगत लोग समझते हैं कि बड़े अवतारी पुरुष है, और बड़े सिद्ध और औलिया हैं. और जरूर मानता पूरी करेंगे। पर यह सब गलत है। ये खुद अपना ही पेट नहीं भर सकते—दूसरों का क्या कल्याण करेंगे ?

केशो से आखिर रहा न गया। ऐस असस बातें सुनकर उबल पड़ा—'मांग्या तो अपने 'बाप दादा' मूर्ख थे—? उन्होंने ये सब धर्म कर्म काहे के लिए लगा दिये ? क्या उसका कोई अर्थ ही नहीं? '

मांग्या बहुत चतुर था। उसने सोचा बहस में पड़ना अच्छा नहीं है। विषय बदल कर बोला—बाप दादों का बाप दादा· जाने। अपने राम को तो बड़ी भूख लगी है!'

और वे लोग मगरमोहे की गली में चले गये, पेट पूजा करने।

मगरमोहे के पास की एक गली में पहुँच कर केशो ने पूँछताछ शुरू की—'रखबदार मारवाडी का मकान किधर है ?'

एक हलवाई ने पूछा—क्यों ?

'वहाँ पुरसोत्तम रहता था।'

'पुरुसोत्तम कौन ?'

'वही शुजारुपुर वाला।'

'ओह, वो तो मील में गया होगा। उसकी लुगाई होगी तो होगी। नहीं तो किसी पंडे के यहाँ पडी होगी। उधर पीपल की तरफ चलकर दाहिनी ओर चले जाना।'

मगरमोहे की इन गलियों में पंडों की, मंदिर के पुजारियों की बस्ती उस जमाने में थी। उनकी स्त्रियाँ मालव-सुंदरियों के ऐतिहासिक वर्णनों से होड करती सी, मल्लिका-मालती जैसी मधुर—मादेर होती

थीं? अवंतिका का वह हिस्सा अभी भी एक दूसरे ही लोक में रहता था। वहाँ दुनियां में बाहर क्या होता था, उससे जैसे लोग अनभिज्ञ थे। समय आकर वहाँ अपनी चपलता भूल गया था, सुस्त अजगर की तरह कुंडली मारकर जमकर बैठ गया था।

वहाँ एक पुराने ढंग के काठ के, चौड़े, दोनों ओर, उपर कोर्निसों पर बने हुए दरवाजे पर जाकर केशो ने दशतक दी। अंदर सें कोई अवाज नहीं आई। फिर वह जोर से पुकारने लगा—पुरसोत्तम? ओ पुरसोत्तम की बहू।

अदंर से किसी ने कुंडी खोली। आवाज हुई।

और घूंघट आधी आँखों तक खींचे एक युवती ने दरवाजे की टे से कहा—मील में गये हैं। आज उनको रात पाली नहीं थी।

केशो ने कहा—मुझे पिछाणा नहीं? हूँ परसोत्तमरा

भैयो!

अभी भी उन काजल-आंजी नीली आँखों में कोई अश्वास्ति का भाव नहीं जागा। वह केशो के साथ के आदमी को देखकर जैसे सकपका गई। बोली—केशो राम जी शुजारुपुरवाला।

—हाँ।

—पधारो।

अब वह दरवाजे से हट कर अंदर चली गयी। एक मैली सी दरी उसने बिछा दी।

और अधिचारिकता के नाते केशो और मांगी राम दोने अंदर जाकर बैठ गये।

—पाणी-वाणी पियो!

केशो ने बताया कि नहीं, ऐसी तो कोई आवश्यकता नहीं है। वह अभी ढाबे में भोजन करके आ रहे हैं। शाम को इंदौर चले जायेंगे। केशो ने यह भी बताया कि मिल में कोई काम खोजने के लिए वह जा रहा है।

इस पर जैसे गोरी के हृदय का कोई मुन्तार किसी ने छोड़ दिया। बोली—मिल की नौकरी बहुत ही खराब है। कभी मत करना। एक तो आदमी घर पर नहीं रहता। रात-रात भर जाना पड़ता है। और बाद में वहाँ नशा-पत्ता भी बहुत होता है। पैसा बहुत कम हाथ में आता है। बुरी सोहबत में पुरसोत्तम पड़ गया है। और अब तो ताड़ी के बिना भी उसका काम नही चलता। घर में कोई बाल बच्चा नहीं है। पर अड़ोस पड़ोस के बामन पंडे बहुत बदमास हैं और परमोत्तम का एक दोस्त 'डिससरी' शराब खाने में काम करता है। वहां मजदूरों को अलावा मजूरी के एक बालटी भर शराब शाम को मुफ्त में दे दी जाती है। इनके मुँह लग गयी है। और घर आकर सोते रहते हैं मारपीट करते हैं। हालत बहुत बुरी है। कहानी सुनाते-सुनाते उसका गला भर आया। ऐसा आत्मीय जो उस पर करुणा बरसाये बरसों से गौरी को मिला नहीं था। और फिर भारी मन, उदास होकर केशो उस घर से बाहर आया जैसे उसकी भावनाओं के पैरों में मन-मन के शीशे के कड़े बाँध दिये हों।

गौरी नहीं मानी। साग्रह उसने उन्हें चाय बनाकर पिलाई।

घर से बाहर आकर केशो ने मांगी से कहा सुना, मिल के मजे तुम कहते थे। ये सुख है परमोत्तम भाई को और उसकी बीबी को।'

मांगीलाल अपनी हमेशा की आदत के हिसाब से बोले— इसमें इसी औरत का कोई दोष है?' मिल का क्या दोष है?

केशो को अपनी छोटी भाभी से कुछ क्षणों में ही अपार सहानु-

भूति जैसे हो गयी थी। वह सोचता था कि भले मनुष्यों पर ही दुख का पहाड़ इस तरह क्यों टूटता है। कहते हैं कि ईश्वर समदरसी है। उसके राज में अन्याय नहीं है। पर दुनिया में देखो तो, जो जितना ही अच्छा है, उतना ही दुख में है।

मांगीलाल बोला—इसलिए मैं कहता हूँ दोस्त केशो—कहाँ के धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य के चक्कर में पड़े हो! खाओ-पीओ-मीत मौज करो। ये सब काम बुढ़ापे के हैं कि सुमरनी हाथ में ले लो और राम भजन करने बैठे। समझे केशो। दुख-सुख की फिकर खाली पेट नहीं हुआ करती।

पर केशो को मांगी का यह सीदा-सादा नुस्खा समझ में नहीं आता था। उसको बार-बार ख्याल हो आता था कि बाप ने बचपन में रामायण क्यों पढ़ के सुनाई थी। क्यों रानी ने कहानियाँ सब देवी देवताओं की सुनाई थीं—क्या इसी दिन के लिए चूहे की पूजा हो और गणेश जी उसके चरणों में बैठ कर अपनी सूंड उठा कर इस तरह सलाम कर रहे हैं जैसे चिड़िया खाने में पालतू 'बेबीएलीफंट' बिस्कुट के लिये उठाता है।

मांगीलाल ने कहा—'पुरुषोत्तम शराब पीता है। तो उसकी फिकर में तुम क्यों दुबले हुए जा रहे हो? केशो, अभी तुमने दुनिया की अच्छी अच्छी बातें ही देखी हैं। अभी आगे-आगे देखते जाओ—बहुत कुछ देखने को बातें मिलेंगी। यों कदम कदम पर आँसू बहाते बैठोगे तो सिर्फ तुम्हारी नजर धुँधली होगी। देखी जाने वाली चीज में फर्क नहीं आयेगा।' कह कर वह ठठाकर हंसा।

'केशो को यह हँसी आग की तरह लगी। उसके सपने झर झर कर पीले पत्तों से गिर रहे थे। उन्हें किसी ने जैसे पलीता लगा दिया हो।

गौरी की आँखों में भी आँसू थे। वे आँखें उस ठंडी कूयें बावली

की तरह थीं जो बरगद नीम की छाँह में कहीं एकान्त में, अ-विचलित, सोते हुये जल को लिये हुये पड़ी हों। उन में कोई दर्द से उठने वाला प्रतिहिंसा का रोष नहीं था, कोई वितृष्णा नहीं थी—कोई ऐसा भाव नहीं था कि पुरसोत्तम को जैसे उन आँसुओं की बाढ़ में डुबो देना चाहती हो। उसमें नारी-सुलभ करुणा का भाव था। उसमें युग युग से जो चिरंतन मातृत्व नारी अपने आप में लिए चली आ रही, उसका ही एक मर्मर-ध्वनि से बहने वाला, एकाकी, निर्झर संगीत था। उन आँखों की सजलता में भावना का कोई ऐसा उद्रेक था, जो कि धरती की कठोरता में प्रसुत किसी जीवनमयी 'हीर' का प्रतिबिंब था। धरती और पानी के तत्त्व स्त्री में किस स्रष्टा ने मिला दिये हैं!

केशो का भोला मन ऐसी कितनी ही संवेदनाओं से भरा था, फिर स्टेशन पर आने पर मनुष्य की इन दो सीमाओं के बीच झूलने लगा—एक ओर तो मंदिर के देवता के चरणों में चढ़ाई हुई निधि को बिना डर के और संदेह के चुराने वाला मांगी राम वैसे पक्का बदमाश है; और दूसरी ओर जैसा कि सुना गया अपना तन बेच कर भी शराबी पति की सेवा भाव से पूजा करने वाली निष्ठामयी गौरी जैसी देवियाँ हैं! मनुष्य कैसी विचित्र सृष्टि है—कितनी महान, कितनी पतित! कितनी ऊंची, कितनी गिरी हुई—कितनी संभावनायें इसमें हैं—अच्छी भी, बुरी भी!

फिर माँगी लाल केशो को इस धरती पर उतार लाये। उन्होंने एक धौल जमाई और कहा—इंदौर का टिकट लेना है। पैसे निकाल!

केशो ने कहा—तुम अपनी कमाई को क्यों नहीं छूते!

मांगी बोला—वह 'मेरी' कमाई है! उसे तो तुम पाप की कहते हो न? तो अच्छा सही—मैं उस की भंग पी जाऊंगा। तुम्हें उस से क्या?

केशो—मांगी लाल अब तुम-हम साथ हैं। हमारी अच्छाई बुराई

हम एक दूसरे से छुपायेंगे नहीं। हम दोनों सुख दुख बांट कर चलेंगे। नहीं तो परदेस में हमारा है कौन ? एक मात्र भगवान का ही तो भरोसा है।

मांगी–भगवान कोई मदद नहीं करते। हमें तो इंदौर में चल कर पन्ना लाल मिल के भगवान से मिलना है। वही हमारा रोटी देने वाला है। तुम अब अपने महाकाल और गणेश जी भूल जाओ। इनसे निकम्मे पंडों तक को रोजी नहीं मिलती। वे भी अब कहीं किसी–राजा महाराजा के यहां कुंडलियां देखते फिरते हैं, हाथ बांचते हैं !

केशो ने इस बात पर कहा कि सड़क के किनारे ये बूढ़े से ज्योतिषी जी महाराज जो हैं–उन्हें एक आना देकर मैं अपना भविष्य जानना चाहता हूँ। मांगी लाल का भविष्य पर जरा भी विश्वास नहीं है। वह वर्तमान को, और उसमें भी इसी क्षण को सत्य मान कर चलता है। वह इस क्षण का सामाजिक दायित्व अगले क्षण पर नहीं डालना चाहता। इस के लिये प्रतिक्षण उसकी नैतिकता की व्याख्या बदलती जाती है।

पर केशो के लिये मनुष्य के व्यापार पशुओं के व्यापार की तरह से इस क्षण का अगले क्षण को भुलाने वाले नहीं हैं। आज जो भेड़िये के लिये भाई, मरने पर वही भोज्य बन जाता है; मकड़ी के लिये जो प्रियकर है अगले क्षण वही खाद्य है; नागिन तो अपने बच्चों को निगल जाती है। पर मनुष्य को चातक इसीलिये प्रिय है न कि उसकी टेक इतनी पक्की है कि बाण लग कर पानी में गिरते हुए भी वह चोंच पानी से नहीं छुआता; सारस उसे इसीलिये भाते हैं कि वे जोड़े से रहते हैं और अकेला सारस जल्दी मर जाता है; हिरण उसे इसीलिये अच्छे लगते हैं कि वे निरीह हैं और...

मनुष्य की निरंतर अच्छा और अपने अनुकूल खोजने की टोह का ही नाम है सभ्यता।

और इस सभ्यता के आनन्द-रत फल में पहला कीट यदि आकर लगा– अनजाने घुसा तो वह था मशीन ! यंत्र सभ्यता में आकर मनुष्य का मन, भावना, शरीर, विचार, रागद्वेष–सब जैसे घुन लगे हो गये। वह चाहता कुछ है, करता कुछ और है।

मगर इस मशीन रूपी टैन्टैलस का आकर्षण प्रबल है। इस मोहिनी ने कई मानवों को भीमासुर बना दिया। केशो भी बड़े शहर इंदौर की ओर खिंचता हुआ जा रहा है। जहां दर्जनों मिलें हैं, हजारों मजदूर हैं जहाँ पैसा श्रम में से यों झरता है, जैसे वह प्राकृतिक क्रिया हो।

पर मांगी लाल ने कहा कि शहर में भी बड़ी बेकारी है। वहां भी भगवान जाबर की चांदी की दच्छिना चढ़ाये बिना नौकरी थोड़े ही मिलती है !

अगर मशीन ने आदमी को ज्यादा सुख दिया। तो क्यों है बेकारी ?

पर ये सब अर्थशास्त्र के प्रश्न समझाने के लिये केशो ने या समझाने के लिये मांगी लाल क्या कोई ग्रंथ पढे हैं ? क्या उन्हें टौसिग और जी० डी० एच० और मार्क्स और वेद के नाम मालूम हैं ? और जिन्हें मालूम भी हैं उन्होंने इस सवाल का समाधान कहां दे दिया है ?

समाधान आँकड़ों में कहां है ?

आंकड़ों के पीछे आदमी है मशीन आदमी को आंकड़ों में परिवर्तित करता है। केशो और मांगी लाल अब केशो और मांगी लाल बनकर आगे इस कहानी में नहीं मिलेंगे –पर वार्पिंग खाने में नंबर दो सौ तीस और दो सौ पच्चीस की तरह से मिलेंगे।

जीवन के यंत्र का यही अभिशाप है कि उसकी गति रुक नहीं सकती।

इस का शक्ति स्रोत कहीं और है। सिक्कों की टकसाल, पीनलकोर्ड के बनाने वाले दिमाग या ऐंट्रेमिक सुख और निरंतर सुख बरसाने वाले यांत्रिक साधन उसे नहीं पैदा कर सकते !

मनुष्य मरने के बाद जी नहीं सकता।

मशीन टूटी तो दूसरी बन सकती है !

[४]

ट्रेन में जब उज्जैन से मेरो और केशो चढ़ने लगे तो एक अजब दृश्य नजर आया। ट्रेन पर बहुत से विद्यार्थी, मारवाड़ी लोग, व्यापारी और कुछ सरकारी अफसरों का जमघट सा था और सब लोग एक आदमी को घेरे हुए थे जो लंबे बाल, बगल में लम्बा शाल ओढ़े, खद्दर का कुर्ता और धोती पहने हुए बीच में खड़ा था।

पूछ-ताछ करने पर पता लगा कि यह हिन्दी के गीतकार और प्रसिद्ध कवि मुरारी हैं, जो किसी कविसम्मेलन के लिये वहाँ पधारे थे। और उन्हें पहुँचाने के लिए इतने रसिकजन वहां उपस्थित हैं। सन् ३४-३५ में, जबकी बात हम कह रहे हैं, हिन्दी कवि आज ही की तरह से जनता के लिये एक अजूबा था। विशेषतः राजस्थान, मध्यभारत, मध्य-प्रदेश, विंध्यप्रदेश जैसे प्रदेशों में हिंदी का कवि ऐसी ही दर्शनीय वस्तु थी, जैसे कोई 'जू' में नया प्राणी हो।

फिर उसमें कवि मुरारी। अपने आप में एक चीज थे! वे अपने बाल धोने में दो घंटा लगाते थे, बेसन और दही से वे बाल धोते थे। बड़े ही सुकुमार माने जाते थे, यद्यपि उनकी आयु सुकुमारता को कभी की पार कर चुकी थी—लंबे बालों की एक वेणी सी सामने कंधे पर ले लेते थे। आंखों में सुरमा अंजते थे और सदा पान खाते रहते, जिसकी पीक के दाग उनके रेशमी शर्ट पर गिरते थे। पढ़ाई-लिखाई अजहद मामूली थी। पर प्रेमगीत लिखने में उनके जोड़ का कोई

आदमी अखिल भारतीय यानी हिंदी-संसार में कोई नहीं था ऐसा माना जाता था। कवि मुरारी का कोई कविता संग्रह प्रकाशित नहीं था। क्योंकि सब उनकी रचनायें उन्हें कण्ठस्थ थीं। श्रोताजन कहते थे कि उनकी आवाज में बड़ा दर्द और सोज था। आलोचक विश्वेन्द्र के शब्दों में 'उनकी कविता पर संगीत का बंधन लगाना तितली के पंखों को लोहे की कड़ियाँ पहनाना है। यदि पंत की कविता हिमालय है, बच्चन की कविता गंगा है तो कवि मुरारी की गीति-रचना स सपाट मैदान जैसी है जिस पर हरी घास बहुत है' एक मसखरे ने अंतिम वाक्य में जोड़ दिया था—पर चरने वाला कोई नहीं (यानी रसिक कोई नहीं।)

आलोचक विश्वेन्द्र एक इन्टर कालेज में अंग्रेजी पढ़ाते-पढ़ाते टेक्स्ट-बुक लिख लिख कर हिंदी के मूर्धन्य मम्मट और मिडिलटन हो चुके थे। वैसे मुरारी उनके दूर के रिश्तेदार भी लगते थे। उन दोनों के विचार से हिंदी में विद्यापति और सूर के बाद 'भावों की गहराई, प्रणय की प्रकारान्तरता, विदग्धता और वाग्वैदग्ध्य में यदि कोई गीत-कवि था तो केवल मुरारी !' आख्यायिका विश्रुत थी कि मुरारी को आल इण्डिया लाहौर पर बुखारी ने जो आल इण्डिया मुशायरा-कम-कविसम्मेलन कराया था तो उसमें एक बोतल के साथ साथ ५०) रु० एक्स्ट्रा फीस मुरारी को दी गई थी। मुरारी की कविता में मनोरंजन खोजनेवाले के लिए मनोरंजन था और अध्यात्म खोजने वाले के लिये अध्यात्म। कविता क्या थी पचमेल मिठाई थी। राष्ट्रीयता का रस उसमें "झिलमिलाता" था (यानी करता था—खुदा जाने !)...और वासना का पवित्र रूप दैवी प्रेम का तो यह हाल था कि जनश्रुति के अनुसार सौ से ऊपर लड़कियां मुरारी को प्रेम-पत्र लिखा करती थीं और उससे भी अधिक श्रोताओं ने उनके फोटो मांगे थे। इस देश में कई प्रकार की गुरुडम चलती थी। यह

कविडम थी। पर यह सब इस रहस्यमय व्यक्ति को और हास्यास्पद अवश्य बना देती थी।

दुर्भाग्य से कवि मुरारी और उनके प्रधान चेले नागरचन्द्र उसी डिब्बे में घुसे जिसमें केशो और मांगो राम बैठे थे और पास-पास उनकी सीटें थीं। बड़ी देर तक जनता के कवि कहकर जिन्हें गौरवान्वित किया जाता था उन गीतकार मुरारी की बातचीत का मतलब केशो या मांगी के पल्ले बिलकुल नहीं पड़ा।

अतः नागरचन्द्र जी ने केशो को बुद्धू समझकर झुड़का – 'मामा, (मालवी और भीली में एकदम गंवार आदमी के लिये शब्द) जरा उधर बैठि जा। जानते नहीं, कविवर मुरारी जी थक गये हैं। एक दिन में चार कवि गोष्ठियां और दो कविसम्मेलन आपने चमकाये हैं।

मुरारी जी चहके–'सिगरेटें चुक गईं क्या? अच्छा! बीड़ी बंडल सेही मेरा काम चल जायगा।'

नागरचन्द्र ने शिष्य भाव से पूछा-'गुरुदेव,आप सदा आसान चीज की ओर ही क्यों झुकते हैं? आपने एक बार फरमाया था कि मेरी अगर दो लड़कियाँ चहेता हों, तो जिसे पाने में मुझे कष्ट होगा उसे मैं छोड़ दूंगा, और जो सहज मिल जायेगी उसे ले लूंगा। अगर इसी तरह सोचें तो तुकान्त कविता तो मुझे महा कष्टमय जान पड़ती है। मुक्तछंद में लिखना नितान्त आसान है। तो आपने आजतक इस प्रकार की रचना क्यों नहीं की?'

दबी जबान में कवि मुरारी बोले-'अबे मूर्ख! किसने तुझे कहा कि मुक्तछंद आसान है। उसमें तो सब पोल खुल जाती है। गीत का मामला सीधा है–एक पंक्ति महादेवी की, एक बच्चन की, एक निराला की, एक प्रदीप

सिनेमा गीतकार की जोड़ दें—आसानी से गीत फिट हो जाता है। तुक का यहाँ बड़ा सहारा है। बँधा-बँधाया रास्ता है। जैसे बैलगाड़ी वाला रात को सो जाता है, लीक-लीक गाड़ी चली जाती है। वैसे ही एक बार में गीत पढ़ना कविसम्मेलन में शुरू कर देता हूं तो फिर किसी की मजाल है कि ब्रेक कोई लगा सके—तुक के बाद तुक फिसलते हुये चले आते हैं। सुनने वालों को भी कुछ सिनेमा का सा, और कुछ सुपरिचितसा आनंद आता है। इसी जुगाली का नाम शाश्वत चिरंतन रस है। हमारे आलोचक विश्वेन्द्र जी मुझ पर 'एक अध्ययन, लिख रहे हैं, उसमें इसी को चर्वणा कहा है! मुंह से बहुत अधिक चर्वित पान की एक पीक-पिचकारी खिड़की से थूकते हुये मुरारीजी ने अपनी सुकुमार देह को इस प्रकार प्रसारित किया कि उनकी गोद में शिशुवत् नागरचंद्र जी भी सविभ्रम बैठ सकें।

नागरचंद्र जी ने फिर मांगी को झिड़का-देखते नहीं कवि वर सोये हैं, तुम लोग उनको पैर फैलाने की भी जगह नहीं देते! ऐं ? राष्ट्रभाषा का कैसा दुर्भाग्य है। हमारा कृषक समाज अभी कितना अज्ञान-पंक में ग्रस्त है...

मांगी और जमकर बैठ गये। कड़क कर बोले-'ये सोने का डिब्बा है? हमने भी पैसे देकर टिकिट खरीदा है। समझे बाबू साहब ये अपनी धोके घड़ी वाली धौंस और कहीं दिखाना!'

अब लगता था कि डिब्बे में हंगामा मचेगा। सीन पैदा हो जायेगा। पर हुआ कुछ नहीं। शिष्योत्तम नागरचन्द्र जी और भी सुकुमार थे—वे अभी फर्स्टइयरमें पढ़ रहे थे और उनके लिये इतना एक वाक्य काफी था। वे खिसक गये, और जेबसे अपनी नन्ही सी नोटबुक निकालकर 'दर्द की तस्वीर' नाम के अपने हस्तलिखित कविता संग्रह का एकांत भाव से पारायण करने लगे।

गाड़ी इस तरह एक महाकवि और उसके चेले को लिये जा रही थी कि मांगी ने केशो से कहा—केशो ! सो मत जाना। फतियाबाद में गाड़ी बदलनी पड़ती है !

केशो बोले—हां ! यार थक गये हैं। बहुत चलना पड़ा !

मांगी—अभी क्या है कपड़ा मील के कंपौंड में जब जाना पड़ेगा तो याद आजायगा छटी का दूध।

केशो ने कहा—बड़े सबेरे मील जाना होता है क्या ?

मांगी—जब आँख भी नहीं खुलती तब जोर से मिल की सीटी बोलती है—भोंपू ऐसा डरावना होता है कि याद रखो—तभी से भागे भागे पहुँचो तो मिलमें वक्त सरी पहुँच जाओ। नहीं तो फिर फाटक बंद। फाटक पर वह लंबूतरा तगड़ा पठान खड़ा रहता है। कभी उसका सोटा देखा नहीं होगा ? देर हो गयी तो टैमकीपर उसका हिसाब रखता है। पगार में से पैसे कट जाते हैं—समझे। और फिर हैड-जाबर अलग से आँखें दिखाता है।

केशो सुनता जाता था। और ऊँघ रहा था।

कवि जी भी ऊँघ रहे थे-परंतु उनके अर्धसुप्त मन के सपने और थे-वे और विश्वेंद्र जी मिलकर हिंदी कविता का एक प्रतिनिधि संकलन बनाने की सोच रहे थे—नागरचंद्र ने उनकी इतनी सेवा—टहल की थी कि उसकी रचनाएँ तो इस संग्रह में अवश्य ही देंगे—और कवयित्री क्रांतिकुमारी—वाह वाह ! उन्हें भला कैसे छोड़ा जा सकता है ? उन्होंने तो कवि मुरारी से सम्मति मांगी थी। और कवि मुरारी ने दो पन्ने सम्मति देते हुए यह लिखा था कि— 'श्रीमती क्रांति कुमारी जी के हाथ के बने पकौड़े आदि खाने का सौभाग्य मुझे कई बार मिला है। मेरे मत से हिंदी काव्य जगत का सबसे चमचमाता नक्षत्र, सबसे देदीप्य-

मान प्रतिभा कुमारी जी ही हैं। यद्यपि वे श्रीमती हैं, फिर भी मेरे लेखे वे कुमारी ही हैं। इनके प्रेमगीत पढ़ते समय मेरे शरीर पर रोमांच खड़े हो जाते हैं। ऐसा वेदना से भरा हुआ हृदय बहुत कम नारियों ने पाया होगा··· इत्यादि इत्यादि।'

पर केशो जो ऊँघ रहे थे—वे और ही कुछ सोच रहे थे—उनके दिमाग में मिल एक विशालकाय अहिरावण—महिरावण का रूप ग्रहण करके सामने आ रही थी, उसके लाल लाल जबड़े हैं, अकराल-विकराल उसके दंष्ट्र हैं, लपलपाती जिव्हा हैं। त्रिनेत्र हैं—नौ—भुजाओं में परशु, पाश खड़ग, चक्र, त्रिशूल, दराँती, हथौड़ा और राजदंड भी है। इस यंत्र दानव का प्रिय पेय है—गांवों का स्वास्थ्यरस ! केशो के सामने यह यन्त्रदानव मोटे-मोटे ग्रंथ पढ़ रहा है-देखते-देखते वह चश्मा पहनने वाले गंजे वकील का रूप धारण करता है। इसके हाथमें एक 'पिरानी' जैसे लोहे का कांटा है जो 'तिक् तिक्' करके इन मजदूर मानवों की त्वचा में चुभोते जाता है—कुछ रक्त जो बाहर निकलता है, उसे देख देखकर वह खुश होता है—वह उस अर्द्ध—पशु अर्द्ध—राक्षस यंत्र रूपी विशालकाय वस्तु के नीचे पिसता जा रहा है।

केशो के मनमें भय है, कुतूहल है। आशंका है, साहस का आनंद है। सोचते सोचते उसे कब झपकी लग गयी, कब फतेहाबाद आया, पता नहीं लगा।

फतेहाबाद चंद्रावती गंज स्टेशन एक दम रूखा और निर्जन था। मालवे की सुहानी चांदनी, लंबे लम्बे मैदानों पर पड़ी हुई दूर तक पालाहा के छोटे छोटे पेडों को चमका रही थी। पर वहाँ और कोई भी आकर्षण नहीं था। एक मुसाफिर खाना था, जो कौआ-रोर से भरा, एकदम गंदा

और असह्य था। केशो और मांगी राम ने अपने छोटे से सामान को वहीं रख दिया और जब-तक मांगी राम बीडी खरीदने गये केशो रख-वाली करते बैठे रहे।

कवि मुरारी और उनके चेले को यहां पर सहसा बांकेलाल छैल-विहारी मिल गये आपकी एक कपड़े की दूकान उज्जैन में थी और एक किताबों की दूकान इंदौर में शुरू की थी। ज्यादहतर काम कोर्सबुक का ही चलता था, पर राष्ट्रीय वृत्ति के होने से कुछ गांधी-साहित्य छापते थे।

चेला नगरचंद्र सेठ जी को जानता था। कवि जी से मिलाया।

'ओ हो हो! परिचाय पाई ने वणों आनन्द भयो!'

नागरचन्द्र ने उन्हें चा पिलाई। और पूछा— 'आप कविता क किताब नहीं छापते?'

बांके लाल बोले—'हैं हैं हैं जी—आपणो तो ये जो बिजिणस है के किताब छापी ने कोर्स हो जाय जल्दी से।'

नगरचन्द्र ने धीमे से कहा—'कोर्स में किताब लगाना तो आपके बांये हाथ का खेल है। उसमें क्या है? प्रो' 'को इतने रुपये चटा दिये, उधर कोर्स बुक कमेटी के चेयरमैन को डाली पहुँचा दी, और पौ बारह' 'बात सच है?'

बांकेलाल ने चेहरा जरा गिराकर कहा—नहीं बात इतनी आसान नहीं है। बहुत सी बाधाएँ हैं।

अब तक योग-निद्रा के भाव में सिगरेट फूकते कवि मुरारी ने इस तरह बात की जैसे डकार ले रहे हों। बोले—आप कोई चिंता मत करो। नगरचन्द्र का और मेरा नाम देकर एक संकलन छाप दो हम दोनों को

उसमें बीस बीस पेज देने चाहिए। बाकी आप चाहे जो करो। पैसे की हमें चिंता नहीं है। जानते हैं प्रयाग के एक बहुत बड़े पब्लीशर ने हमें ५०००) आफर किये थे। हमने अपना कविता संग्रह छपने को नहीं दिया। हमें क्या मालूली कवि समझ लिया है। आपके यहाँ के दस मिलोंके मालिक सेठ बैंकर ने एक कविता पर इतनी रकम दे डालने का वादा किया था। पैसे को हम लोग ठोकर मारते हैं। अरे, जिसकी बगल में सरस्वती हो, लक्ष्मी उसके आगे हाथ जोड़ते फिरती है

नागरचन्द्र ने उनकी बात में और हामी जोड़ दी–सुन लो सेठजी, इनकी बात मान लो, माला माल हो जाओगे।

सेठ कुछ कुचिंत नेत्रों से पूछने लगे–आजकल कविजी को कौन-सी चिंता व्यापे हुए हैं?

कविजी कुछ नहीं बोले।

चेले ने अर्थ समझाया–'ये आजकल कई नये वाद चल पड़े हैं–प्रगतिवाद और हालावाद और रहस्यवाद, इनमें कविजी चक्कर में पड़ गये हैं।'

सेठ बोले—'परगति वाद? मैं तो जानता था कि हुसंगाबाद के बाद एक इलाहाबाद ही है। पर यह नया फैजाबाद कौनसा आ गया?'

इस तरह से साहित्य के नाम पर शून्य, जाहिल और अशिक्षित प्रकाशकों ने उस जमाने में हिंदी के प्रकाशन-संसार को पूरा भर दिया था। कहीं कोई भूले-भटके नया लेखक सिर उठा लेता, वर्ना गति-रोध मूर्तिमान था। पर फिर भी किताबें धडल्ले से छपती जा रही थीं। कविता की खास तौर से सबसे ज्यादह। उनमें गुण की बात गौण थी। मुख्य बात थी कविता ग्रन्थ छप जाना—कई कविलोग अपनी ही जेब का पैसा लगा कर संग्रह छपवाते। गट्ठर बाँधकर अपने पास रखते

और मित्रों को मुफ्त में बांटते। संग्रह बिकते नहीं थे, तो एकाध जगह टिकिट लगा कर कवि सम्मेलन रखे गये और बजाय टिकिट के कविता की किताब उस जगह रख दी गई और इस तरह कवि लोग कोशिश कर रहे थे कि कोरी कविता पर जियें, जो कि संभव नहीं था।

फिर कुछ कवि टेक्स्टबुक लिखते कुछ भटैति करते, कुछ अश्लील पुस्तकें उपन्यासों के नाम पर लिखते। और हिंदी साहित्य बकौल एक आलोचक के, इस प्रकार दिन दूने रात चौगुने समृद्ध हो रहा था।

इन्दौर की गाड़ी आयी। और अबकी बार सेठ जी के ऊँचे वर्ग के डिब्बे में—यानी ड्योढ़े में—कवि और उनके प्रकाशक बैठ गये। केशो और मांगीराम ने एक खचाखच भरे थर्ड में अपने आपको और सामान को ठूँसा।

अजनादे आया, पालिया आया और धीरे २ रासमंडल की पहाड़ी दीखने लगी और दूर से इस दर्जनों मिलों के औद्योगिक शहर की बत्तियाँ जादू के देश की तरह से जगमगाने लगीं।

केशो के लिए यह इतनी रोशनियाँ इतने सवेरे पहली ही बार पंक्ति बद्ध खड़ी हुई-ऐसी जान पड़ीं जैसे किसी जंगल में बहुत से लकड़बग्घे खड़े हों और उनकी आंखे चमक रही हों। कब नया शिकार फसता है, इस अंदाज से—

यंत्र की इस विशाल ट्रेजेडी का एक पुर्जा बेचारा केशो था।

और यंत्र की इस विशाल ट्रेजेडी का दूसरा पुर्जा यह हास्यास्पद कविप्रकाशक इत्यादि थे। एक का सम्बन्ध कपड़ा-उद्योग से होने जा रहा था। दूसरे का कागज-उद्योग, मुद्रण-उद्योग, प्रेस और शिक्षा-व्यवसाय से था।

कपड़ा तन को ढ़ांकता है, शिक्षा मन को खोलती है। ...शायद...पर यहां कपड़ा तन को उघाड़ रहा था, शिक्षा मन को ढांक रही थी।

जो गाढ़ा पसीना किसी काले मिट्टी के खेत में कपास और गेहूँ उगाता—आज मशीनायस्वाहा होने जा रहा था। जो कविता कभी वाल्मीकि के अरुक आंसुओं से उसके पापी मन को धोती थी, वह आज पण्य बन चुकी थी— एक अत्यन्त हेय मुद्रा में बैठी हुई विवियाति दीना भिखारिणी !

'पसीने की, आंसू की कदर इन्सान कब करना सीखेगा ?'—यह प्रश्न दार्शनिक मनोहर का प्रश्न था—जो मौलिक उत्तर चाहता था, सत ही उपचार नहीं।

[५]

मनोहर के मित्र शरण भी एक ही जीव थे। उन्होंने वनस्पति शास्त्रों में बी० एस० सी० की और कई दिनों तक कृषि के रोगों का अध्ययन करते रहे। उनका इरादा था कि कोई ऐसा काम किया जाय कि जिससे हिन्दुस्तान का किसान सुखी हो।

पर वह इरादा पूरा न हो सका। स्वभाव से जरा तेज थे। एक दिन आफिस में सुपरिन्टेन्डेन्ट ने बुलाया–आज दफ्तर में देर से क्यों आये ?

शरण ने गर्दन झुका ली।

'मैं पूछता हूँ यही आप लोगों की मारल रिस्पॉन्सिबिलिटी (नैतिक जिम्मेदारी) है ? ये सब नौजवान यों चले आते हैं जैसे उनके बाप की ही जगह हो।'

शरण ने धीमे से कहने की कोशिश की–सॉरी ! मेरी भतीजी······

सुपरिन्टेन्डेन्ट के लिए इतना स्वाभिमानी युवक देखना एक नया अनुभव था। उन्होंने आव देखा न ताव–गालियां बकनी शुरू कीं–

ये सब झूठे बहाने मैं समझता हूँ आपकी भतीजी से आपका कोई सम्बन्ध......

वह अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाया। शरण ने उसे जमकर एक तमाचा जड़ दिया।

अब तो दफ्तर में हंगामा मच गया।

शायद पुलिस भी बीच में आ जाती। पर बीच-बचाव में शरण के पिता ने शांत किया और सब बातें ठीक से निपटा दी गयीं। पर वह दिन है कि शरण ने प्रतिज्ञा की कि मैं अब नौकरी नहीं करूँगा। सारा वनस्पति शास्त्र और विज्ञान एक ओर डालकर वह दर्शन पढ़ने के लिए बड़े शहर में चला गया—जिस विश्वविद्यालय में मनोहर से उसकी भेंट हो गयी। दोनों में बहुत सी बातें ऐसी थीं जो एक सी थीं। दोनों स्वाभिमानी थे। दोनों अन्याय के विरोधी थे। दोनों सहृदय थे। शरण की पारिवारिक-आर्थिक स्थिति अच्छी थी। मनोहर तो साइनबोर्ड रंगकर और ट्यूशनें करके पढ़ाई का खर्चा निकालता था।

दर्शन के अध्ययन में पुस्तकों की सदा कमी रहती। सो शरण के पास पैसे की कमी नहीं थी। वह ग्रन्थ खरीदता और दोनों मिलकर पढ़ते। परन्तु कुछ बातों में शरण और मनोहर में एक बात पर मौलिक मतभेद था। शरण 'प्यूरिटन' थे। सवेरे चार बजे उठते, ठंडे पानी से नहाते। गीता या वैदिक मंत्रों का पाठ करते। और स्त्री मात्र से उन्हें घृणा थी।

मनोहर जीवन को इतना नीरस नहीं समझता था। अच्छा संगीत, सुन्दर दृश्य, स्वादु भोजन या भीनी-भीनी गंध—यह सब अगर ग्रहण करने के लिए नहीं हैं, तो क्यों इतनी इन्द्रियां शरीर के साथ दी गई हैं। यह सही है कि अतिचार स्वयं उन वासनाओं के शिकार होने

वाले का शिकार कर डालता है; पर अतिचार तो दूर वह सा
सुखों को पाने जितनी भी स्थिति में नहीं था। फिर भी जितन
अधिक उसने दर्शन पढ़ा, उसका मन उदार होने लगा और वह से
लगा कि मनुष्य सांचे में बांधकर रखने जैसी चीज नहीं है।

धर्म—संकीर्ण, सांप्रदायिक अर्थों में, आचारों के और विधिनि
के जंजाल में उलझा हुआ धर्म—उतना ही असहनीय है जितना
सांचे जैसा यंत्र दोनों जीवन के चेतन और जड़ पहलुओं को जकड़न
चाहते हैं। जीवन है कि जकड़ना या जकड़ा जाना उसके स्वभाव के
विपरीत है। जो बंध गया, वह उड़ क्या सकेगा?

इसलिए जब मनोहर को शरण का तार मिला—तब उसने बिना
झिझके कबूल कर लिया। और अपने घरवालों की परवाह किये बिना
वह भी इन्दौर जाकर पहुंचा। शरण तब तुकोगंज में एक बंगले में
रहता था।

मिले, तो बहुत सी सुख दुःख की, नई पुरानी खट्टी मीठी यादों की
बातें होती रहीं। बाद में मनोहर ने विषय शुरू किया—'यह नौकरी देंगे
तुम्हारे तार में था यह है क्या चीज?

'यहां के मजदूर संघ के मन्त्री बनोगे?'

'मजदूरों की जिन्दगी के बारे में मैं बहुत कम जानता हूं।' मनोहर ने
साफ-साफ कह दिया।

'यहां पहले से जानने की बात नहीं है। धीरे-धीरे तुम सब कुछ
जान जाओगे।'

'काम किस तरह का होगा।'

'हर मिल में जाना। वहां के मजदूरों को अपनी यूनियन का मेम्बर
बनाना। उनकी तकरारें कोई हों तो उन्हें दर्ज कर लेना। उन्हें जहां पहुंचाना
हो वहां पहुँचाना। एक तरह से इतने बेजुबानों की जुबान बनना, इतने बे.

पढ़े-लिखों को सुधारना। इस अंधेरे में ज्ञान की रोशनी पहुँचाना।'

मनोहर की आदर्शवादी प्रकृति के अनुकूल यह बात थी। बहुत उत्साह से कहा—'हां, हां। क्यों नहीं?'

'तो फिर आज अखिल भारतीय मजदूर समिति के अध्यक्ष से तुम्हारी भेंट करा दें?' शरण ने फिर पूछा—

मनोहर ने हिचकिचाते हुए कहा—'तुम भी साथ रहोगे न?'

'हां, हां। मैं तो मजदूर संघ के काम में भी तुम्हारे साथ रहूँगा।'

'बहुत ठीक'

दोनों ने मन ही मन निश्चय कर लिया कि अब मजदूर-जाति का पूरा सुधार करके ही रहेंगे।

दोपहर को इन्दोर शहर के बीच में बाड़े के सामने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का कोई दफ्तर था, वहीं श्रीमान् जी ठहरे हुए थे। उनका असली नाम लोगों को मालूम नहीं था—श्रीमान् जी—श्रीमान् जी शब्द से ही सब लोग उन्हें पुकारते थे। सन् ३० के आन्दोलन में दो बार जेल हो आया था। एक बार चक्की पिसाई मिली थी। एक बार बड़ा फाका भी किया था

दोपहर को शरण और मनोहर पहुँचे तो श्रीमान् जी गीता सिरहाने रखे, सो रहे थे। पता लगा कि जब-जब सख्त सिर दर्द उन्हें हो जाता है तो वे गीता को ही—और खास तौर से गीता प्रेस वाली इस एडीशन को ही सिरहाने रख लेते हैं—और उसके बाद सिर दर्द यों काफूर हो जाता है। जैसे गधे के सिर से सींग।

दोनों आकर बैठे रहे। बोल भी नहीं सकते थे। बोलते तो उनकी नींद में खलल पहुंचता। इसलिए मनोहर शून्य भाव से हरिजन सेवक

अंक उठाकर पढ़ने लगे। शरण ने बाहर बरामदे में चहल कदमी शुरू की।

गाँधी जी के गरीबी मिटाने के बारे में जो विचार थे—उनसे मनोहर को पूरा संतोष नहीं था। उसके मन में बड़ी उतावली और अधीरता थी। वह सोचता था—इस प्रकार से भला कभी अमीरों का हृदय परिवर्तन हुआ है? मनुष्य एक बार पैसा कमाने के चक्कर में कर एक दम साँचे की तरह यान्त्रिक भाव से काम करता है। वह भला कभी बदल सकता है। परिवर्तन तो तब हो जब उसमें हृदय के तत्व बचे हों। बार-बार मनोहर इसी दुविधा के सामने आकर टकराता था कि मनुष्य की मनुष्यता इस स्वार्थ-यंत्र की विराट भट्टी में झुलसकर जो भस्मप्राय हो गई है, उसमें कहां से हरारत फिर से पैदा की जा सकती है।

संदेहवाद का जलता हुआ गर्म सीसा मनोहर की आत्मा में घुस गया था। उसने कहीं उसके बचपन में ही ऐसे दाग पैदा कर दिये थे, जो मिटते नहीं थे।

श्रीमान् जी उठे। आँखें कुछ अधमुंदी सी थी। नाक पर से चश्मा उतारा पोंछा। फिर तीक्ष्ण दृष्टि से नवागंतुक की ओर देखने लगे इतने में शरण आ गया और मनोहर जिस पशोपेश में पड़ा था उससे बच गया।

श्रीमान जी ने सप्रश्न दृष्टि से भौंहों का भाला मनोहर की ओर ताना।

शरण ने संक्षेप में कहा—मनोहर दूबे। दर्शन में एम० ए० किया है। मजदूरों की सेवा करना चाहते हैं।

सूखी हंसी चेहरे पर खींचकर श्रीमान् जी ने अपने नकली दाँतों

का प्रदर्शन किया–'अच्छा, अच्छा। खद्दर पहनते हैं। तो राष्ट्रीय वृत्ति के हैं। आप खद्दर कबसे पहनते है ?'

'विद्यार्थी दशा से' मनोहर ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

'पर देखिए,' श्रीमान् जी ने अब उपदेश का एक लम्बा 'डोज' मीठा-कड़ुआ पिलाना शुरू किया. 'यह जो काम आप हमारे यहाँ करने आ रहे हैं यह मामूली काम नहीं है। यह नौकर शाही की लाल फीते वाली नौकरी नहीं है, कि बस आपने कागजी योजनाएँ बना लीं और बैठ गये–चुपचाप उस पर पेपर वेट की तरह से। यहां हम जो दो-दो आने चंदा फी मजदूर उगाहेंगे, तो हमें मजदूर के प्रति उत्तरदायित्व भी निबाहना होगा। आप क्या समझे ? इस तरह 'क्लैंकली' आप मेरी ओर मत ताकिये। यह हड्डियाँ जो आपको दिखाई दे रही हैं ये अग्नि परीक्षा दे चुकी हैं–जेल की कोठरी में ये सड़ चुकी हैं, कोड़े इस काया ने बहुत खाये हैं, फाके इस शरीर ने किये हैं, त्याग और सेवा जो इस देह ने की है उसका शतांश भी आजकल के तुम नौजवान लोग कर नहीं सकते !' उनका यह धाराप्रवाह वक्तृता प्रवाह न रुकता कि एक खद्दर की बिना किनारो की फूलदार साड़ी पहने, मुक्तकुंतला एक साँवलीसी शिष्या अन्दर के कमरे से आई और उन्हें कहने लगी–'बापू ! मुसंबी के रस का समय हो गया है ! साथ में अंगूर चलेंगे या अनार।'

'दोनों ले आना'–कहकर देश भक्त श्रीमान् जी ने एकाग्र भाव से कहना शुरू किया–'तो मैं क्या कह रहा था–बिना त्याग के दुनिया में कुछ नहीं हुआ है। माता बच्चे का पालन करती है, त्याग है। वृक्ष फल देते हैं, त्याग है। हम हिंसा न करते हुए सत्याग्रह करते हैं, त्याग है। आपके लिए मैं यह समय, इतना मूल्यवान समय, दे रहा हूँ, त्याग है। आप नहीं जानते कि इन दिनों मैंने अन्न प्रायः त्याग दिया है। केवल

फलों के रस, दूध, साक तथा मिठाई आदि पर ही निर्वाह करता हूँ। यह त्याग किस लिए है ? इसलिए कि मैं जानता हूँ कि अगर यह त्याग मैं नहीं करूंगा तो देश के लाखों-करोड़ों जो भूखे पेट पड़े हुए किसान और मजदूर भाई हैं, उनका क्या होगा ?'

इतने में फलों के रस आये। खजूर आये। श्रीमान् जी ने उनका स्वाद-ग्रहण बिना किसी को पूछे या देने के लिए कहने के शिष्टाचार के शुरू कर दिया। खाते-खाते और पीते-पीते श्रीमान् जी बीच-बीच में अपनी आत्म-जीवनी के संस्मरणात्मक अध्यायों में उलझ जाते। 'सन् तीस में तब हम सब लोग डिस्ट्रिक्ट जेल में थे। एक बार साबुन की टिकिया को लेकर प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष के बीच में और मेरे बीच में वह मजेदार वाद-विवाद हुआ कि कुछ न पूछो। मैंने कहा कि यहां यद्यपि हमें जेलर की दोस्ती की वजह से 'ए' क्लास मिली है, फिर भी यही चाहिये कि हम साबुन इत्यादि का त्याग कर दें। पर भाई जी बोले कि साबुन के बिना कपड़े से मैल त्याग करने को राजी नहीं होते। इस बहस में अन्त में हमने आचार्य जी से फैसला लिया। आचार्य जी का मौनवार था उन्होंने सूत्र रूप में उत्तर दिया साबुनः त्यागः कपड़ों का मैल—इसमें से कोई भी एक कम कर दीजिये। वही त्याग हो जायगा। अन्त में त्याग का त्याग करने का निश्चय किया गया।'

सब लोग स्तब्ध भाव से शिष्य रूप में सुन रहे थे। श्रीमान् जी की बात में ऐसी हंसने की बात क्या थी यह समझ में नहीं आया। फिर भी जब ही-ही करके वे हंसे तो जरूर ऐसा लगा कि इसमें कोई बहुत बड़ी हंसने लायक बात है और श्रीमान् जी अपेक्षा करते हैं कि और सब लोग हसे। सबने हंसने की कोशिश की।

अब श्रीमान् जी मुद्दे की बात पर आए। और मनोहर से उसे क्या आता है यह पूछने लगे—

'आपको कातना आता है ?'

'नहीं ?'

'आप भाषण दे सकते हैं ?'

'क्यों नहीं ?'

'आपने मजदूरों में काम किया है ?'

'नहीं ?'

'आपने गांधी साहित्य पढ़ा है ?'

'जी हां'

'आपके ऊपर परिवार की कोई जिम्मेदारी तो नहीं है ?'

'नहीं'

'यह अच्छा ही है। हमारी सार्वजनिक संस्थाएं ३०) प्रति मनुष्य खर्च देती हैं। आप अकेले हैं—आपको यही वेतन दिया जाएगा।'

'तीस रुपये ? इससे काम कैसे चलेगा ?'

'तीस रुपये तो आपको रहने, भोजन आदि के मिलेंगे। वैसे जहाँ भी आप प्रवास करेंगे, प्रवास का खर्च अलग से मिलेगा। और कोई असुविधा नहीं होगी। बीमार पड़े तो संस्था का डाक्टर है ही। बीस रुपये आप किसी ढाबे को दे दीजिये–दोनों समय भोजन आपको मिल जायेगा। और ऊपरी खर्च के लिए दस काफी हैं। आपको कोई गंदी आदतें तो नहीं हैं ?'

शरण ने बीच में टोककर कहा–'नहीं-नहीं, ये तमाकू भी नहीं पीते और सिनेमा भी नहीं जाते। यही गंदी आदतें है न ?'

बड़े समाधान का स्मित श्रीमान जी के मुख पर झलक गया। बोले–'तो ठीक है मनोरम जी या मनोहर जी, आप हमारे प्रान्तीय मजदूर सभा के मंत्री बंडूराम जी से मिल लीजिए। वे आपसे आजीवन सेवा का व्रत ले लेंगे।'

मनोहर कुछ बोल नहीं सका। वह कहने जा रहा था कि 'आ
वन सेवा...जी,...जी, वह तो...'

पर बिना कुछ बोले श्रीमान् जी ने अपनी घड़ी उठा ली। अ
उनकी सेक्रेटरी वही साँवली, बिना किनारी के फूलदार साड़ी प
सेक्रेटरी लड़की ने घोषित किया—'अब अखिल प्रादेशिक हरिजन से
संघ के अध्यक्ष मिलने आ रहे हैं।'

नमस्कार करके शरण और मनोहर उठकर चल दिये।

शरण ने मनोहर से पूछा—इंटरव्यू तो सफल रही। अब तु
मजदूर संघ के मंत्री बन गये, समझे?

मनोहर चुप था।

शरण जी ने कहा—कितना बड़ा अधिकार! कितना बड़ा से
का क्षेत्र तुम्हें मिल रहा है। और तुम होकि उदास हो।

मनोहर चुप था।

उसने प्रकट में सिर्फ कहा—'अच्छा हुआ बेकारी से भला है, कु
अटक गये।'

उसके मन के भीतर बहुत बड़ा मंथन चल रहा था। क्या देश
सेवा का सपना मन में आँक रखा था, और क्या उसे प्रत्यक्ष
मिला। श्रीमान् जी से भी बुरा अनुभव बंझूराम जी का था। वे ब्रह्म
चारी थे और मूर्तिमान क्रोध थे। जाते ही मनोहर पर भूँक कर बोले-
'आप मजदूरों की सेवा करने चले हैं? मुझे तो शक है कि—'

शरण ने बीच में समझाया—'ये इकानोमिक्स के भी बड़े अच्छे
विद्यार्थी रह चुके हैं।'

वंडूराम जी बोले—'होगा होगा ! वह कालिज की पढ़ाई यहां काम नहीं देती। यहाँ वक्त पड़ने पर मार भी खानी पड़ती है, समझे !'

मनोहर ने शरणागत भाव से कहा—'खा लेंगे। मार भी खा लेंगे, आप कहना क्या चाहते हैं?'

वंडूराम जी बोले—'ये पता है कि माहवार तीस रुपये का आजीवन व्रत लेना होगा। बाद में यहाँ से विवाह करके भाग गये तो क्या ठिकाना। यहाँ आप को बहनों के साथ भी काम करना होता है। कोई ऐसी वैसी बात सुनाई दी तो...'

मनोहर चुप रहा। उसने शरण की ओर देखा। शरण ने वंडूराम जी को आश्वासन दिया कि मनोहर का चरित्र उत्तम है, और कोई 'ऐसी वैसी' बात नहीं होगा।

वंडूराम जी ने फिर ऐसी आशंका व्यक्त की— हिसाब किताब रखने में आप कहाँ तक ईमानदार हैं? कभी इस तरह का काम पहले किया था !'

मनोहर फिर चुप रहा।

शरण ने बताया कि इस बात की जिम्मेदारी वह खुद लेते हैं। और मनोहर इस मामले में बहुत प्रामाणिक हैं इस में कोई संदेह नहीं।

वंडूराम जी बोले—,आदमी का क्या भरोसा है, संस्था है। यहाँ हजारों का बड़ा बारा-न्यारा होता है। आज नहीं कल, पैसे दाबने की इसके मन में आ गई तो? कोई क्या करे? जमानत के लिए कौन है?'

शरण ने कहा—मैं हूँ।

जब पूरी तरह से वंडूराम जी का समाधान हो गया तब उन्होंने

मनोहर से बाँड भरवा लिया—'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजीवन ३०) माहवार में मजदूर संघ की सेवा करता रहूँगा। विवाह नहीं करूंगा। राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रख कर यह संस्था ही मेरा घर होगा।

'ईश्वर को साक्षी रख कर मैं वायदा करता हूँ कि संस्था का एक पसा भी मैं व्यक्तिगत काम में खर्च नहीं करूंगा। मजदूरों की सेवा में मेरा जीवन-व्रत होगा !

'इस काम के आगे मैं घर-बार, परिवार को व्यर्थ समझूंगा। मेरे चरित्र के विषय में नीचे दो गवाह देने वालों के हस्ताक्षर हैं।' इत्यादि-इत्यादि ।

[६]

बाँड भर तो दिया। पर मनोहर के मन में बार-बार यह विद्रोह उठ खड़ा होता था कि यह जो मैंने किया अच्छा नहीं किया। उसने लिज़ा को जो पत्र लिखा, उसमें अपने मनोभाव पूरी तरह अंकित किये—

'प्रिय लिजा,

यहाँ आकर मैं तुम्हें पत्र लिखने वाला था। पर कोई ऐसा समय ही नहीं मिला कि मैं फुरसत से यहाँ जो हुआ उस पर कोई विचार कर पाऊं। इस समय मेरे सामने दो श्रद्धाओं में एक चुनने का ख्याल है। क्या मैं नौकरी करके घर वालों के काम आऊं ? जैसा कि सभी नौकरी करने वाले करते हैं, या मैं घर-बार को छोड़ कर मजदूरों की सेवा में लग जाऊँ ?

श्रद्धा अच्छी चीज है, पर उस पर भी विवेक का अंकुश जरूरी है। नहीं तो वह बे-मानी हो जाती है।

मैंने इधर एक छोटा-सा लेख जैसा संस्मरण प्रभाकर माचवे का लिखा पढ़ा है उसकी कतरन मैं साथ में भेज रहा हूँ, इस आशा से कि तुम उस पर विचार करोगी और मुझे अपने और अपने पिता फादर डिक्सन के विचार लिख भेजोगी?

क्योंकि मूलतः प्रश्न यहाँ मत-परिवर्तन कराना या, धर्मान्तर कराना कहाँ तक उचित है, इस पर भी जाकर टकराता है। धर्म का मूलाधार क्या है? निष्ठा। यदि यह बदल सकती हो तो फिर उस धर्म का अर्थ क्या है?

क्या धर्म ऐसी वस्तु है कि एक को छोड़ कर दूसरा ग्रहण कर लिया जाय? जीवन में ऐसे भी लोग देखने में आये हैं, जो कई प्रेयसियाँ एक साथ या एक के बाद एक रखते हैं—और सब से प्रेम व्यक्त कर सकते हैं। क्या यह संभव है? संभव हो तो भी उचित है? मैं समझता हूँ कि इससे घोर आत्मिक पतन और कोई हो नहीं सकता? मुझे छूंछ आदर्शवादी न, समझो।

अब मैं मजदूर-सेवा में अपनी जिंदगी बिताने जा रहा हूँ। देखना, क्या हो कर रहता है? या तो मैं ही मजदूर बन कर बचा रहूँ या मशीन का दैत्य मुझे और मजदूरों को खा जाय। दोनों संभावनाएँ हैं।

अंधी और आँखों वाली श्रद्धा

"एकबार आश्रम में सायंकाल की प्रार्थना के बाद एक ऐसे मद्रासी दंपती से भेंट हुई, जो गाँधीजी जहाँ बैठते हैं, वहाँ आसन के नीचे की धूल रूमाल में बाँधकर ले जा रहे थे। मैंने उनसे पूछा—इस रजका आप क्या करेंगे? उन्होंने कहा—पूजा।

इससे बिल्कुल उल्टे एक ऐसे लट्ठ, उद्धत शायद पंजाबी महानुभाव के भी दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जो प्रार्थना के पश्चात् जब

गांधीजी स्वाक्षरी (आटोग्राफ) दे रहे थे, उनके बिल्कुल पास जाकर, तुलसी या रुद्राक्ष की माला (जो गांधीजी प्रार्थना में जपते हैं, बाद में गले में पहिनलेते हैं) के मनके बिना माला पहिनने वाले की अनुज्ञा के, बिल्कल छूकर आंखें फाड़कर देखने लगे, मानो उनमें कोई जादू छिपा हो।

अब मैं कहता हूँ कि दोनों वृत्तियां गलत हैं।

व्यक्ति-पूजा या विभूति-पूजा इस हद तक न पहुंचे कि उससे हमारा विवेक ही मारा जाये। वैसे व्यक्ति-पूजा नहीं किस देश में होती? जापान में मिकाडो के प्रति, जर्मनी में हिटलर के प्रति, जनता में श्रद्धा ठूँसी जाती रही है और थी। मगर इंग्लेंड में सम्राट के प्रति, रूस में स्तालिन के प्रति वह श्रद्धा क्या किसी कम मात्रा में है? हमारे यहां राष्ट्रकर्मी व्यक्तियोंके प्रति हर प्रांत में श्रद्धा है। तिसपर हमारा देश तो वैसे ही धर्म-प्रधान है। परन्तु मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि श्रद्धा अन्धी न हो। वह जागरूक और विवेक दृष्टिवाली श्रद्धा होना चाहिये।

मुझे ऐसे भी कई नेता मालूम हैं जो गांधीजी की बातों में से एक भी आचरण में नहीं लाते, परन्तु वे अपने को गांधीवादी बराबर बताये जाते हैं। अहिंसा उनकी इतनी बड़ी कि बात-बात पर वे क्रुद्ध हो उठते हैं, सत्य उनका इतना अडिग कि एक ओर बापू के चरणों में दूसरी ओर सरकारी युद्धोद्योग के खेमे में, पार्टियों में, व्यवसाय में। ऐसे श्रद्धालुओं से डरना चाहिये।

धर्मके इतिहास में इसके ज्वलंत प्रमाण हैं कि जब जब धर्म के अनुयायियों का संशय व्यक्त करने का अधिकार छिन जाता है, या उन्हें ऐसा बना दिया जाता है कि वह खुदबखुद कम हो जाता है, तब तब धर्म अतःपातकी ओरही झुकता है। वेदांती शंकर ने जबतर्क को अप्रतिष्ठित

बना दिया, तार्किक नये-नये पंथ खोज निकालने लगे; जब-जब जैनागम जैनत्व से अधिक पूज्य हो गये, दिगम्बर श्वेतांबरियों के झगड़े बढ़ते गये। इसी प्रकार बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम मजहबों की बात है। गांधी-धर्म (यदि ऐसी कोई वस्तु विचार लोक में हो तो)को भी ज्यों का त्यों नकल उतारने की भावना से नहीं लेना चाहिये। उसमें श्रद्धा जो करते है या करना चाहिते हैं. पूरी ठोक-पीटकर, क्यों, कैसे के साथ करें। असत्य या गांधीजी के मतो का विकृत,अतिकृत अन्धानुकरण उनके प्रति श्रद्धाको भी हानि पहुचायेगा। सच्ची श्रद्धा मौन और सजग होती है।

गांधजी विचार–वाक–स्वातंत्र्य के बड़े भारी हिमायती हैं। अवश्य उनके मतों स विरोध अथवा मतभेद शालीन भाषामें व्यक्त करना श्रद्धा या पाप नहीं है। मेरे कई मुसलमान मित्र है। वे लेखक भी है। मैं उर्दू लिपि नहीं जानता। सीखना चाहता हुँ–पर उर्दू ही क्यों सिंहली और चीनी और रूसी भी सीखना चाहता हूं। पर लिपि सीखलेने से मनसे संस्कार कैसे मिट जायेंगे ? भाई परमानन्दजी हिन्दुमासभा वाले या कई आर्यसमाजी प्रचारक उर्दू बखूबी जानते है पर उस कारण से वे मुस्लिमों के प्रति उदार कहां बने है? उससे उल्टे उदाहरण मिलेंगे। अतः दो लिपि सीखनेकी बात सबके लिये संभव नहीं।

सवाल एक या दो लिपि, एक या दो नेता, एक या दो नीतियों का ही नहीं है—चुनाव एक समर्पित जीवन और एक अ-समर्पित जीवन के बीच में है।

पर लिज़ा तुमने कहा था कि मैं कभी समर्पित हो ही नहीं सकता। मुझमें का अहं इतना तीव्र है। इतना कठोर और न घुलने वाला।

नहीं—नहीं। ऐसा अस्फीत जीवन पापी का जीवन है। मैं उस राहसे नहीं जाऊँगा।

आज से मैंने अपने जीवन के लिए अरविंद की ये पंक्तियाँ मोटो की तरह से गिरह बाँधती है।

"Know thyself next as the workers, know therefore thy body to be a knot in matters and thy mind to be a whirl in universal mind and thy life to be an eddy. Know last the master to be thyself, but to this self put no form and seek for it no definition of quality. Be one with that in thy being, commune with that in thy consciousness.'

प्रिय लिजा, आज इतना ही लिखता हूँ। ज्यों-ज्यों मैं मजदूरों के संपर्क में आता जाऊँगा—तुम्हें लिखता रहूँगा।

फादर डिक्सनको नमस्कार।

सप्रेम—

मनोहर—

[७]

केशो जब मांगीराम को लेकर मिल में पहले दिन गया तो भगवान जाबर के दर्शन हुए।

भगवान जाबर धनी मूछी, तांबे के रंग की आंखों का गुंडे जैसा जान पड़ने वाला आदमी था। सब जानते थे कि वहीं' बदली" दे सकता है। और हर नये मजदूर को कमाई का निश्चित अंश उसे देना ही पड़ता था।

आज तक भगवान मात्र का यही काम साधारण रहा है। वह

मनुष्य की कमाई का हिस्सा खाता आ चला आ रहा है। वह भी डर की धमकी के भरोसे।

वैसे नौकरी पाने के एक दिन शाम को वह लक्ष्मी—नरायण मंदिर में गया था। वहां एक भट्टजी प्रवचन कर रहे थे उपनिषद् सुना रहे थे।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षम् ।
अभयं द्यावा-पृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्तात् ।
उत्तराद् अधराद् अभयं नो अस्तु ।
अभयं मित्राद् अभयं अमित्रात् ।
अभयं ज्ञाताद् अभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तम् अभयं दिवा नः ।
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ।।

भट्ट जी कहते जा रहे थे— 'धरती, आसमान और उससे भी परे नक्षत्रों की दुनिया हमें अभय बनाये। इस सफर में आगे बढ़ें, पीछे रहें, ऊपर चढ़ें-या नीचे गिरें, सदा अभय हों। दोस्तों से, बे पहचानों से सबसे हम अभय रहें। 'जो हो चुका' उन बातों का ज्ञात, या गलती से होने वाली बातों का अज्ञात हमें भयभीत न करे। चाहे निवृत्ति की रात हो या प्रवृत्ति का दिन—कुछ भी हमें भयभीत न करे। हमारी सामूहिक इच्छा शक्ति हमारी सहायता करे!"

सुनने को यह सब उपदेश मधुर थे। तीन हजार बरस से हम यही सुनते आ रहे हैं। उपनिषदों के ऋषियों से लगाकर विनोबा तक—पर क्या हमारा डरपोकपन किसी कदर कम हुआ है?

मसलन यह भगवान जावर है। इसके अत्याचारों की रोम हर्षक

कहानियां सारी मिलमें पीढ़ियों से चली आ रही हैं। पर आजतक 'सामूहिक इच्छा- शक्ति' ने कोई काम यहां नहीं किया है।

मिलते ने ही भगवान ने घुड़की दी–'पहले कभी मिलमें काम किया है ?'

केशो ने कहा—'नहीं'

भगवान क्रूर हसी हंसकर बोला—'तो डबल होगी हमारी फीस !'

मांगीराम ने हामी भरी–'वह सब हम दे देंगे।'

भगवान ने कहा–'शराब तो नहीं पीता ?'

'नहीं'

'और गांव में कर्जा कितना छोड़ आया है ?'

'कुछ नहीं।'

'ऐसा न हो कि बाद में यहां पुलिस पीछा करती हुई चली आवे। मैं यह सब झंझट नहीं पसन्द करता।'

'वह कुछ नहीं है।'–दोनों ने आश्वासन दिया।

'रहते कहाँ हो ?' अगला सवाल।

अभी तो महारानी पुरे में एक चाल में जगह मिल गई है।

'ठीक है'—मूछों को यों ही बल देते हुए भगवान ने अपनी छोटी छड़ी घुमाई और आगे चलने लगा-'कल से आ जाना'

दूसरे दिन सवेरे भोंपू की सीटी बजी। बहुत जल्दी धुर-सवेरे नये अनुभव की अधीरता में केशो मांगी लाल के साथ मिल के फाटक तक पहुँच चुके थे। अंदर किसी तरह प्रवेश मिला।

अपने खाते तक पहुंचने में देर लगी। रास्ते में कोयले से भरी छोटी छोटी ट्रालियां रातपाली के बच्चे अपने से कहीं अधिक बोझा उठाये हुये ले जा रहे थे। वैसे कागज में कानून थे। बच्चों में

असुक उम्र तक के लड़कों को मिहनत का काम न देने का आदेश था। पर बात यह थी कि कई तरहके ये आवारा छोकरे यहां वहां अपराध करते और सब पापों का प्रक्षालन करने यहां पहुँचते । लेबर इन्सपैक्टर से बचने के लिये इनके नाम रजिस्टर में दर्ज नहीं कराये जाते । ज्यों ही इन्सपैक्टर के आने की भनक पड़ती इन्हें भगा दिया जाता था। इन्सपैक्टर की 'मुट्ठी गरम' करके मामला निपटा दिया जाता था।

जो हालत बच्चों की थी उस से भी बुरी हालत मजदूरनों की थी। ज्यादातर बहुत घिचपिच सांचों पर काम करती—सालखाते में भी कुछ थीं पर उनकी कोई जिन्दगी नहीं थी वैसे ही पुरुषों से कम मजूरी यहां भी उन्हें मिलती। और तिसपर अपमान के घुड़की, सब तरह की बुराइयां उन्हें घेरे रहती । उन पर जाबर की बुरी नजर थी ही। साथ ही उन्हें काम पर लगाने वाला ठेकेदार अव्वल नंबर का शराबी और जुआरी था। उसकी अंटी में इनकी गाढ़ी कमाई का बहुत सा जाता था। लच्छमी को उसके धनी ने छोड़ दिया था। पारबती दो पतियों को छोड़ चुकी थी। सोना के घर बच्चे थे, पति कमाता था, उसे भी कमाना पड़ रहा था। नरबदा का पति शराबी था और उसकी आय घर में आती ही नहीं थी । गीना का बाप बहुत बूढ़ा था—इसलिये जवानी में ही उसे नौकरी करनी पड़ती थी। इन सब औरतों की कमजोरियों और मजबूरियों से उनके नौकरी दिलानेवाले सुपरिचित थे और वे उससे पूरा फायदा उठाते थे ।

मिल के अंदर की दुनियां कुछ और ही दुनियां थी। वहां एक छत्र साम्राज्य चलता था मशीन का। साँचा वहां का सम्राट था।

एक भयानक बड़ा चक्का था—जिसके उपर एक बहुत बड़ा चमड़े का पट्टा बराबर बिजली से चलता रहता उसी के सहारे और छोटे पट्टे बराबर कई चक्के चलाते रहते।

और उन छोटे चक्कों से और छोटे चक्के चलते। इन चक्कों के सहारे सब खाते चलते—कपास के बीज निकाल कर साफ करने वाला जिनिंग खाता, उसे धुनने वाला खाता वारपिंग खाता, साल खाता, वीविंग खाता तैयार कपडे की तहें बनाकर गांठे बनाने का खाता, रंगाई खाता वगैरह वगैरह। और हर खाते में चींटियों की तरह से आदमी काम करते रहते। इन चींटियों को चीनी का दाना था हफ्ते या महीने के बाद मिलने वाली पगार।

जिस दिन केशो पहुँचा था पगार का दिन था। और जब शाम को वह मिलसे बाहर निकला तो दूसरा ही नजारा दिखाई दिया। मिल के फाटक पर पठान, कर्ज देने वाले खान और कई तरह के चपडकनाती लोग खड़े थे। मिल के फाटक के बाहर पास में ही लाली की दूकान थी। बहुत सा मिलमें मिला रुपया उस लाली में उँडेल दिया जाता, जैसे ठर्रा ज्यादा पीकर बाद में होने वाली कै हो। कुछ भद्दी, जिनकी आंखों में शर्म का पानी मर चुका है, ऐसी औरतें भी फाटक के बाहर थीं। मिहनत के पैसे का यह सब उपयोग अजब था। लोटरी-सट्टे वाले भी बाहर पैसे उगाहने के खड़े रहते थे। इतनी सब आंखों के पींजड़ों से कोई बचाव नहीं था। पगार इधर से आती, उधर चलीं जाती। मजदूर मानों सिक्कों के मैल को बहाने वाली नालियां थे।

दिन में जो आध घंटे की छुट्टी होती उस वक्त खाने के लिए न कोई मिल की ओर से चलाये जाने वाले अच्छे खाने के होटल थे। माताएं जो अपने बच्चे लाकर बाहर एक पेड़ की डाल से कपड़ा टांगकर उसमें रख जातीं—उनके लिए कोई 'क्रेश' भी नहीं थे। अब ये थियेटर और व्यायाम-शालाएं और लाइब्रेरियां तो बहुत बाद की चीजें हैं—उन दिनों ऐसी कोई सभ्यता-सूचक वस्तु उस मिलों के जंगल जैसे 'एरिया' के आसपास नहीं थी।

पहले ही दिन केशो इस महा-सांचे की माया से आतंकित हो गया। उसकी तो जैसे बोलती बंद हो गई। यह नया काम कोई खास उसे पसंद नहीं आया। पर पसंद आना न आना गौण बात थी, मुख्य बात थी महावार मिलने वाली निश्चित पगार के सिक्के!

सांचा...आदमी...सिक्के

यह सीधा अंकगणित था। दो बड़े यंत्रों के बीच में आदमी बहुत छोटी-सी क्षुद्र चीज थी। उसकी इच्छा आकांक्षा के कोई माने नहीं थे—अब हम कृषक राजा जनक के जमाने के रामराज में थोड़े ही रहते हैं! इस्पात-युग में रहते हैं। यहाँ आदमी का हृदय-सम्राट वाल्मीकि या तानसेन नहीं—आदमी के हृदय पर एक-छत्र साम्राज्य सांचे का है।

और इसके बाद भी कवि कहते हैं कि इस घटना की छांह भी कहीं कोमल भावनाओं को छू न पाये, वे झुलस जायेंगी। किस स्वप्न-लोक में रहते हैं ये कवि और लेखक!

मांगीराम बाहर निकले तो बोले—'केशो! क्या इरादा है—कुछ जी हरा कर लिया जाय।'

केशो बोले—तुम चाहे जहाँ जाओ! यहाँ तो सिरदर्द हो रहा है। मैं तो घर जाऊंगा।

जल्दी-जल्दी पैर उठाकर केशो अपनी चाल की ओर जाने लगा। उसे बार-बार अपने घर की याद आ रही थी। उसे लग रहा था कि उसने यहां आकर महा मूर्खता की। पर अब लौटना कहाँ था! सभ्यता के चरण ऐसे हैं कि वे सदा आगे ही पड़ते हैं—वे लौट नहीं सकते?

रास्ते में जा रहा था कि एक भलामानुस लगनेवाला पढ़ा-लिखा

और उन छोटे चक्कों से और छोटे चक्के चलते। इन चक्कों के सहारे सब खाते चलते—कपास के बीज निकाल कर साफ करने वाला जिनिंग खाता, उसे धुनने वाला खाता वारपिंग खाता, साल खाता, वीविंग खाता तैयार कपड़े की तहें बनाकर गांठे बनाने का खाता, रंगाई खाता वगैरह वगैरह। और हर खाते में चीटियों की तरह से आदमी काम करते रहते। इन चींटियों को चीनी का दाना था हफ्ते या महीने के बाद मिलने वाली पगार।

जिस दिन केशो पहुँचा था पगार का दिन था। और जब शाम को वह मिलसे बाहर निकला तो दूसरा ही नजारा दिखाई दिया। मिल के फाटक पर पठान, कर्ज देने वाले खान और कई तरह के चपडकनाती लोग खड़े थे। मिल के फाटक के बाहर पास में ही लाली की दूकान थी। बहुत सा मिलमें मिला रुपया उस लाली में उँडेल दिया जाता, जैसे ठर्रा ज्यादा पीकर बाद में होने वाली कै हो। कुछ भद्दी, जिनकी आंखों में शर्म का पानी मर चुका है, ऐसी औरतें भी फाटक के बाहर थीं। मिहनत के पैसे का यह सब उपयोग अजब था। लौटरी-सट्टे वाले भी बाहर पैसे उगाहने के खड़े रहते थे। इतनी सब आंखों के पींजड़ों से कोई बचाव नहीं था। पगार इधर से आती, उधर चली जाती। मजदूर मानों सिक्कों के मैल को बहाने वाली नालियां थे।

दिन में जो आध घंटे की छुट्टी होती उस वक्त खाने के लिए न कोई मिल की ओर से चलाये जाने वाले अच्छे खाने के होटल थे। माताएं जो अपने बच्चे लाकर बाहर एक पेड़ की डाल से कपड़ा टांगकर उसमें रख जातीं—उनके लिए कोई 'क्रेश' भी नहीं थे। अब ये थियेटर और व्यायाम-शालाएं और लाइब्रेरियाँ तो बहुत बाद की चीजें हैं—उन दिनों ऐसी कोई सभ्यता-सूचक वस्तु उस मिलों के जंगल जैसे 'एरिया' के आसपास नहीं थी।

पहले ही दिन केशो इस महा-सांचे की माया से आतंकित हो गया। उसकी तो जैसे बोलती बंद हो गई। यह नया काम कोई खास उसे पसंद नहीं आया। पर पसंद आना न आना गौण बात थी, मुख्य बात थी महावार मिलने वाली निश्चित पगार के सिक्के !

सांचा...आदमी...सिक्के

यह सीधा अंकगणित था। दो बड़े यंत्रों के बीच में आदमी बहुत छोटी-सी क्षुद्र चीज थी। उसकी इच्छा आकांक्षा के कोई माने नहीं थे—अब हम कृषक राजा जनक के जमाने के रामराज में थोड़े ही रहते हैं ! इस्पात-युग में रहते हैं। यहाँ आदमी का हृदय-सम्राट वाल्मीकि या तानसेन नहीं—आदमी के हृदय पर एक-छत्र साम्राज्य सांचे का है।

और इसके बाद भी कवि कहते हैं कि इस घटना की छांह भी कहीं कोमल भावनाओं को छू न पाये, वे झुलस जायेंगी। किस स्वप्न-लोक में रहते हैं ये कवि और लेखक !

मांगीराम बाहर निकले तो बोले—'केशो ! क्या इरादा है—कुछ जी हरा कर लिया जाय।'

केशो बोले—तुम चाहे जहाँ जाओ ! यहाँ तो सिरदर्द हो रहा है। मैं तो घर जाऊंगा।

जल्दी-जल्दी पैर उठाकर केशो अपनी चाल की ओर जाने लगा। उसे बार-बार अपने घर की याद आ रही थी। उसे लग रहा था कि उसने यहां आकर महा मूर्खता की। पर अब लौटना कहाँ था ! सभ्यता के चरण ऐसे हैं कि वे सदा आगे ही पड़ते हैं—वे लौट नहीं सकते ?

रास्ते में जा रहा था कि एक भलामानुस लगनेवाला पढ़ा-लिखा

बाबू—छोटी सी चड्डी और काला सा चश्मा पहने, उसे रोककर उसके हाथ में एक 'फारम' थमाकर बोला—'तुम्हें मेम्बर बनना चाहिये।'

केशो पढ़े-लिखे नहीं थे। बोले—'काहे का मेम्बर, ये कागज़ क्या है। मुझे मत दो बाबा ?'

अब तो दो चार नौजवान उसे घेरकर जमा हो गए। और उनमें से एक ने कहा—दो चार आने।'

किसी तरह बला टालने के इरादे से उसने चार आने अंटी से निकाले और सोचा—चलो घर चलें।

सब बाबू मिलकर उसे लेक्चर पिलाने लगे—'तुम्हारा नाम क्या है ?'

'केशोलाल ?'

'रहनेवाले कहाँ के ?'

'शुजालपुर के ?'

'आज से तुम हमारी लाल झंडेवाली यूनियन के मेम्बर बने। तुम जानते हो—लाल झंडा ही दुनियाँ के मजदूरों को मुक्ति देनेवाला है। बाकी सब जितनी मजदूरों की जमातें हैं देशद्रोही हैं, गद्दार हैं पूंजीपतियों से मिली हुई हैं।'

केशो हक्का-बक्का खड़ा था। उसने कहा—'मेरी समझ में यह सब कुछ नहीं आता।'

आखिर वे नौजवान, जिनमें एक लड़की भी थी—उसे घेरकर एक दुमंजले की छोटी सी कोठरी में ले गए। यहाँ कोई नेताजन व्याख्यान दे रहे थे। केशो चुपचाप बैठे रहे। आजतक उन्होंने सत्तनारायण की कथा सुनी थी—या सुने थे प्रवचन। पर ऐसा सुन्दर भाषण पहली बार सुनने में आया। इसमें बार-बार वह अंग्रेजी में भी बोलते जाते थे।

सुन्दर रेशमी पीली कमीज पहने, घुंघरवाले बालों को झटका देते हुए, दाढ़ी-मूँछ सफाचट बाबू मुट्ठी तनतनाकर बोलते जा रहे थे –'दोस्तो ! मैं तुमसे फिर कहना चाहता हूँ कि कांग्रेस तुम्हारे साथ धोखा दे रही है। अंग्रेजों से जो आजादी की लड़ाई वह लड़ रही है, वह नाटक है, सरासर धोखा है। गाँधी साम्राज्यवादियों और कैपिटो-लिस्टों का एजेण्ट है। (तालियाँ)।'

वक्ता ने और आवेश में आकर भद्दी हंसी हंसकर कहा-'कामरेड़ों, इन्कलाब को अब दूर मत समझो। वोह अगली गली में है। जल्दी ही इधर भी आयेगा और जब वह आयेगा तो यह समाज का ढांचा चरांकर गिर पड़ेगा। यह नीति की मान्यताएं और मर्यादाएं चूर-चूर हो जायेंगी। यह जो कुछ आप पवित्र और सुन्दर और धार्मिक समझते हैं, यों जल जाएगा जैसे आग की चिंगारी से सूखे पत्ते ! (तालियाँ)।'

फिर नेता ने बड़ी देर तक यह समझाया कि मजदूरों के मामले में कानपुर और अहमदाबाद में क्या हो रहा है। दंगों को उकसाने के पीछे किसका हाथ है। 'मजदूर एकता जिन्दाबाद !' के नारों से सभा समाप्त हुई।

केशो भी बुद्धू की तरह अपने जूते खोजता-खोजता वापिस चला चवन्नी के बदले उसका वक्त अच्छा बीता। उसे महसूस हुआ कि वह भी कुछ है। सांचा ही सिर्फ नहीं है। पर जब वे मजदूर नेता यह कह रहे थे कि मशीन, सभ्यता का जवाब मशीनी-संगठन है— तब उसके पल्ले बहुत कम पड़ा। कैसे आदमी कितना ही चाहने पर भी यंत्र बन सकता है ? कैसे ? कैसे...

८

केशोलाल झंडे वालों के दफ्तर में बार-बार जाने लगा। जब मांगी

ने मना किया कि भगवान जावर उसे इस बात पर से नौकरी से निकाल देंगे । तो वह गुप्तरूप से वहाँ जाने लगा । जैसे कलाल के यहाँ चुपके से जाकर पीने में नशेलची को जो आनन्द आता है, वैसा ही कुछ आनन्द केशो को आ रहा था । एक दिन मिल में एक दुर्घटना हुई । चलते हुये साँचे में नराण के कुर्ते की बांह आ गई । और जब तक वह बचाने के लिए जाय, एक झटके में उसकी बाँह कंधे से अलग हो कर टूट गिरी । खून में लथपथ नराण बेहोश पड़ा हुआ केशो ने अपने साँचे के पास देखा ।

कई स्वार्थी ऐसे थे कि अपना सांचा छोड़ कर नराण के पास आने को राजी नहीं थे । उन्हें लगता था—पता नहीं सहानुभूति दिखाने जाओ तो जावर कहीं काम से न निकाल दे ।

मिल में एक ही शोर मच गया ।

साल खाते वाले काम से बाहर निकल आये ।

देखते-देखते मिल के फाटक के बाहर कामरेड बाबू राय ने एक सभा ले ली । बड़े गर्मागर्म भाषण हुये । पर यह सब जोश उस मौके के लिये तो तपते लोहे को पीटने की तरह, लाल झंडे वालों ने अपने काम में लाने के हिसाब से, जमा किया ।

पर बहुत दिन जाकर भी नतीजा कुछ निकला नहीं ।

मिल वाले बोले—लाल झंडे वाली यूनियन हमारे रियासती कानून के हिसाब से 'रेकग्नाइज्ड नहीं ।

केशो ने पूछाः 'क्या मतलब हुआ ?' '—इसका मतलब यह है कि हम तुम्हें पहचानते नहीं । तुम्हें हम अंगूठा दिखाते हैं ।जाओ अपने रास्ते !'

इधर मनोहर ने भी अपना काम शुरू किया था , ज़ख्मी नराण

का केस इस तिरंगे झंडे वाले मजदूर- संघ में भी लिखाया गया। मनोहर सारे मामले को कानूनन ढंग से ऊपर ले गये। घटना का फ़ायदा उठाकर सिर्फ जोशो-खरोश और उबाल पैदा करने की कोशिश उन्होंने नहीं की।

ऊपर तक शिकायत पहुंचाई गई।

निर्णय मिला कि नराण को 'कम्पेन्सेशन' मिले। मोआवजे में कई सौ रुपये इलाज के लिये और ऊपर से महावार रकम बंधी हुई मिली।

मनोहर के संघ की यह पहली विजय थी।

मनोहर का मजदूर संघ और भी एक कारण से इंदौर में जड़ें जमा रहा था कि वह भारतीयता को लेकर चलता। वह मजदूरों के धार्मिक व्रत-त्यौहारों का ख्याल रखता गणेशोत्सव भी वे मनाते और रामलीला भी।

वे मजदूरों की भाषा में बोलते—सीधी सादी। और ऐसा काम करते, जो उन्हें तुरत लाभ पहुँचाता।

उलटे लाल झंडे वाले बहुत साहित्य ऐसा बांटते जो मजदूरों की समझ के बाहर था—मार्क्स और एंगेल्स की पुस्तकें, सोवियत रूस की क्रांति का इतिहास द्वंद्वात्मक भौतिकतावाद इत्यादि।

और मजदूरों को सबसे अखरती—खास तौर से केशो जैसे गाँव से आये हुये मजदूरों को—लाल झंडे वालों की रहन-सहन की मुक्त शैली। इनके कार्यकर्ताओं में खान पान का निषेध नहीं था-इससे मुसलमान और अछूत वगैरह इनके साथ बहुत थे—पर फिर भी इनमें छोकड़े ज्यादह थे—लड़के लड़कियां भी साथ रहती थीं। और सभी बुरे हों सो बात नहीं। पर जैसे यह किस्सा सुनने में आया

था कि कामरेड सामंत जो पहले राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कट्टर गुप्त कार्यकर्ता थे, एक जगह एक श्रीमती खेड़ कर के घर में ट्यूशन करने जाते थे—धीरे-धीरे प्रेम यहाँ बढ़ा कि श्रीमती खेड़ कर अपने बच्चों को और क्लर्क गरीब पति को छोड़ कर श्री सामंत के साथ भाग गईं और लाल झंडे वाले दफ्तर में शरण पाई। यहाँ यह नहीं सुझाया जा रहा है कि लाल झंडे वालों का लड़कियों को फुसलाने या भगाने का ऐसा कोई सोशल फ्रंट पर प्रोग्राम था, । पर वह दिन है कि कामरेड सामंत का घोर मत-परिवर्तन हो गया। वे कट्टर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघी से कट्टर कम्युनिस्ट बन गये। एक मताग्रह से वे दूसरे मताग्रह तक पहुँच गये—कट्टरता दोनों तरफ थी। जो उनकी अव्यवस्थित जिन्दगी में बड़ा अच्छा मानसिक सांत्वना,का काम करती।

केशो ने यह भी सुना कि कामरेड दत्तात्रेय को इसलिये पार्टी से निकाल दिया कि वह कृष्णमूर्ति के दर्शन को मानता था, उनकी तस्वीर घर में रखकर पूजता था।

उस प्रदेश का और उस काल का सारा मजदूर आंदोलन, सारा राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं समाजिक कार्यकर्ताओं का मनोलोक वहाँ की सामंती परिस्थितियों से प्रभावित था।

जमींदार और छोटे व्यापारी भी कांग्रेस को कहाँ चाहते थे? वे सब प्रछन्न रूप से लाल झंडे वालोंकी मदद करते थे। उनके लिए पैसा कहां से आता है यह जानना बहुत अर्थपूर्ण नहीं था। जहां सेभी आए स्वीकार्य था। इंकलाब की आगमें यह स्कैच, लोहा, तांबा, रांगा,टिन, शीशा गल जायगा ऐसा वे मानते थे।

पर वह आग कहां थी!

बहुत दूर पर वह आग थी। और जहां उसकी कल्पना में ये ताप

रहे थे। तालाब में ठिठुरते ब्राह्मण को महल की रोशनी आग पहुँचा रही होगी यह सुनकर बीरबल ने पेड़ के सहारे हंडिया टांगी और नीचे तिनकों की आग जलाकर खिचड़ी पकाने लगे।

पर क्या दुनिया के इतिहास में स्थान की दूरी इतनी बड़ी दूरी होती है ?

पर क्या कभी क्रांतियां परप्रत्ययनेय होती हैं—पर—प्रकाशित। क्या वे स्वयम्भू नहीं होनी चाहिये ?

पर क्रांति के लिए क्रांति ध्येय हो, उसे क्या समझाये ?

लाल झंडे वाले दफ्तर के अन्दर की बातें ही निराली थी। एक दिन वहां कवि मुरारी आ पहुचे। मुरारी और नागरचन्दजी का स्वभाव ऐसा था कि जहां जाओ वहां लोकप्रियता प्राप्त करना उनका प्रधान उद्देश्य था। इसलिए कवि मुरारी की ख्याति थी कि जहां चाहे, वहां वे उन्हीं के हो जाते थे। जब महारानी की वर्ष—गांठ आयी तो कवि मुरारी ने कसीदा लिख दिया, जब मजदूरों की बारी आई, तो वहां भी 'लेनिन

हैया—हो
भैया—हो

लेनिन ही तो एक हमारा, दुनिया का पालन हारा।
दुनियां में गर ध्रुव का तारा, तो वह केवल लाल सितारा।
लाल सितारा॥

मुरारीजी का चेला 'लाल सितारा' शब्द की पांच बार आवृत्ति करता था।

और इसी तरह मुरारी जी जब ग्राम में पहुंचते तो ग्राम्य-गीत गाते (पता नहीं हिन्दी में इस 'ग्राम्य' शब्द को संस्कृत की परंपरा से विच्छिन्न पहले किसने चलाया ?)

तो मुरारीजी जब वहाँ पधारे तो लाल-झंडे वालों के ब्रेनस ट्रस्ट में
क मिस कामिनी होती थीं। शायद मैट्रिक फेल थी या ऐसे ही कुछ'
र 'साहित्य पर मार्क्सवादी विचार धारा' पर वह निबंध लिख लेती थी
और जनता का साहित्य के प्रति क्या दृष्टि-कोण है इस बात का पूरा
अतापता उसे था। नतीजा यह था कि कवि मुरारी के स्वागत-सत्कार के
लिए क़ामरेड कामना की नियुक्ति हुई।

स्वागत-सत्कार जो होना था या न होना था, इस बहाने वह
रण के पास पहुँची कि यह साहित्य का सवाल है। इसमें राजनीतिक
त-भेद कहाँ आते हैं? यह तो मानवतावादी संयुक्त मोर्चा है। शरण
ीधे आदमी थे-मान गये।

सभा जो होनी थी हुई। मुरारी जो चीखने थे, चीख गये।
काशक सेठ बाँकेलाल ने उनकी कविता का उग्ररुप देखा और उनसे
ात करनी छोड़दी। मुरारी ने सोचा—यह तो बुरा हुआ। फिर उसने
पनी कविता में एक नया नुसखा निकाला जिसे उसने गांधी-वादी
माजवाद कहा। एक ही पत्थर से दो पक्षी मरने का अच्छा तरीका
।

इस बीच में मुरारी जी ने 'कामिनी के प्रति'—कुछ प्रेम-गीत लिख
ाले, और चूंकि कामिनी नाम बहुत खुला होता, उसे मानिनी के
ति कर दिया।

परन्तु कामिनी जैसी चंचल हृदया स्त्री क्या चाहती है—यह कहना
ठिन है। स्त्रियों को कौन सा पुरुष कब पसंद आ जावेगा यह अनुमान
गाना विधाता की भी कल्पना के बाहर की बात है। सो कामिनी और
रण का परस्पराकर्षण कैसे, कब, क्यों कहाँ शुरू हुआ—यह एक रहस्य
। परन्तु कामिनी ने धीरे-धीरे शरण के हृदय में कहीं स्थान अवश्य

पा लिया। यहाँ तक कि शरण अपनी सैद्धान्तिक स्थिति से भी शायद चलित होने लगे।

उनके मन में एक विराट् उद्वेलन आरम्भ हुआ।

हम सारी समाज-व्यवस्था में हृदय परिवर्तन लाने की बात करते हैं। पर जब एक स्त्री के हृदय को जीत नहीं सकते—तो और कठोर हृदयों को जीत पाना तो बहुत बड़ी मुश्किल है।

धीरे-धीरे शरण महोदय अंतमुर्ख और आत्मस्थ होने लगे। दार्शनिक मनोहर से उनकी इस विषय में बातें शुरू हुईं।

मनोहर ने कहा—स्त्री का प्रेम? एक मूर्खता है। जीवन में ऐसे कई बुद्‌बुद् उठते हैं—नष्ट हो जाते हैं।

शरण ने कहा—क्या कहते हो? जो सत्य की तरह ज्वलत है, उसे ठुकराते हैं। मुझे लगता है कि वही प्रेम सत्य है। और तो सब प्रवंचना है।

मनोहर ने धीमे से सुझाया कि मनोविज्ञान के पास इसका उत्तर है। इतने दिन जो नारी से भागते रहे हो, उसका बदला यह नारीत्व या प्रकृति तुम्हारे साथ ले रहा है।

प्रश्न अनिर्णीत रहा।

[९]

केशो मिल में काम करते-करते ऊब गये थे। कभी इस यूनियन वाला उन्हें बनाता था, कभी उस संघ वाले को चंदा देना पड़ता। हालत ज्यों-की-त्यों खस्ता थी। नेता लोग आते! व्याख्यान देकर चले जाते। फूलमाला, पैम्फलैट, शब्द, शब्द, शब्द बाढ़ की तरह से निकल

जाते। मजदूरों की दुनियां उसी तरह बिलबिलाती रहती। ताड़ी उसी तरह बिकती रहती, खान उसी तरह डंडा पीटता रहता; मजदूर औरतों की अस्मतें पान की पीक की तरह खुले आम सड़कों पर कलंकवती बनतीं; मजदूरों के बच्चे उसी तरह बिना दवा-दारू के मर जाते।

केशो इस सबसे उब गया था।

मांगी राम की बात दूसरी थी। वह मौला जीव ठहरे—उनकी एक रात फ्लैशवालों के साथ कटती; तो दूसरी आडा—बाजार में। आज थेटर देख रहे हैं तो कल मार हंटरवाली—घोड़ा बेटा पंजाब का धड़-धड़-धड़-घडडम-स्टंट पिक्चर देख रहे हैं। उनका विवेक मर चुका था। जिन्दगी के सांचे में सुख का रस बराबर निकलता जाता था—गन्ने के बदले हड्डियाँ पेरी जा रही थीं तो क्या?

केशो रात को आसमान में तारे देखते तो घरवाली की याद आती। बच्चे का सोचते। भाई बंदों का सोचते। इस वक्त गाँव में होते तो आनन्द से नीम के नीचे खाट बिछाये पड़े रहते। दूर से कोई गोठे की गाय रंभाती या बैलगाड़ी के बैलों के गले की घंटी बजती। कोई शोर गुल नहीं होता। और यहां चाल है कि गटर की बदबू, मच्छड़ों का भिन्नाना और अड़ोस-पड़ोस की बक-झक में शाम कब निकल जाती है, और रात को तारे भी चांदी के सिक्कों की तरह मुंह चिढ़ाते दूर जाकर बैठे हैं, पता नहीं। तारे हैं या आशा का उड़ा हुआ झाग है, जो वहां दूर जाकर जम गया है।

सो केशो ने सोचा इस कार्तिक पूनम पै उज्जैन के सिपरा जी के घाट चला जाय। और मांग्या न आया तो न आने दो वह अकेले जाने की सोच कर उज्जैन आया।

आकर मगरमोहे में उसी गली में जाकर गौरी भाभी का पता

चलाया। वह किसी पंडे की रखेल बन कर भाग गई थी ऐसा पता चला। पुरुषोत्तम की भी कोई जिंदगी थी? मिल में काया पिस चुकी थी। अफीम के सहारे किसी तरह चल रही थी गाड़ी।

परसोतम से पता चला कि अफीम की काश्त मालवे में एक बड़ी भारी जरायमपेशा जमात का पेट पालन का व्यवसाय है। मंदसौर की अफीम चीन के मार्ग से जाती हुई सैनफ्रांसिस्को में पकड़ी गई। चुरा कर बेचने वालों के अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह हैं। और उस दिन हवालात पर जो वारदात हुई वह तो बड़ी सनसनीखेज थी। एक आदमी के मोटर की सीट में लोहे की दो परतों के बीच मनों अफीम पकड़ी गई...

वाह रे सामंती मालवा। कंजरो और साँसियो का मालवा। डाकुओं और सेंध डालने वालों का मालवा! क्या इसी की धर्मग्रंथों में तीरथ करके तारीफ है? क्या इसीको लेकर कालिदास मेघदूत में पागल हो उठे थे। पर केशो कालिदास नहीं जानता था—यह एक हिसाब से उसका सद्भाग्य था। उतनी ही निराशा उसे कम थी

सो केशो और परसोतम कार्तिक के मेले में गये।

कोई साहब वहां एक बड़ा खेमा लगाये 'प्रार्थना' पर भाषण दे रहे थे। कालेज के कोई अध्यापक थे। बतला रहे थे कि–

'क्या करेंगे शेखजी लड्डू का फोटू चाट के?' इसी तरह से जब दुनियां में प्रत्यक्ष कोई चीज नहीं मिलती—तब भगवान से वह चाही जाती है। भगवान और कुछ नहीं अपने मन का भरम है। एक धोखे की टट्टी...' तालियां बज उठीं। पर केशो के कुछ समझ में नहीं आया। अगर भगवान एक सपना है तो जो जाबर उसका भगवान, क्रूर, महानिर्दय, मूंछें मरोड़ने वाला, उसे नित्य तंग करने वाला, रिश्वतें खाने वाला बैठा है, वही कौन है?

नहीं सही है। लेक्चर देने वाले तो यों ही झूठी बातें बकते हैं।

परसोतम ने कहा—इस बार मेले में कई नई चीजें आई हैं।

केशो—नई चीजें क्या ?

परसोतम बोला—गांव वालों को भणवाने के लिए कई किताबें और कई तरह की हाथ की बनी चीजें और कई ऐसी नई बातें हैं।

केशो ने कहा—अच्छा चलो, यह भी देख लें।

पर वे सब नक्शे, चार्ट, प्रदर्शन में रखी गई बातें देख कर केशो 'कन्विन्स' नहीं हुआ। उस में आश्वास-भाव नहीं जगा। उसे लगा कि शहर वाले बाबू लोग गाँव वालों का नाम आगे करके किसी तरह से उन्हें लूटना चाहते हैं। इसके पीछे सचमुच में गांव वालों की माली हालत सुधारने का इरादा नहीं है। यह सब एक विराट धोखा है।

कारण यह था कि इन खेमों में जो प्रचारक थे, वे सब अंग्रेजी पोशाक में, अंग्रेज़ी बोलने वाले बाबू थे।

उनके मन में किसानो के प्रति कोई आत्मीयता नहीं थी, तो वह किसान भी उनके प्रति कैसी आत्मीयता अनुभव करते ?

सिपरा के किनारे रात को कई बैलगाड़ियां रेत में सुस्ताई पड़ी थीं। कहीं भजन गाये जा रहे थे, कहीं लोकगीत। दीपकों की कई कतारें पानी में डूबती-उतराती थीं। वातावरण में एक अजब उल्लास और आनन्द था। प्रकृति जैसे वहां मुखर हो उठी थी। आसमान की निरभ्रता किशोरियों की किलकारी में आकर समा गई थी। पलाश के पुष्पों की कोमलता जैसे उनके चेहरों पर खिली थी—पर अभी तो चारों ओर पतझर था। पीले पत्ते थे, चिता-भस्म थी, टूटे घाट और खंडित पैड़ियां थीं.....

केशो उसमें खो गया।

उसे इन्दौर की मिल की, साँचे-खाते की हड़बड़ी और चिर-आतंक में पिसती जिन्दगी एक बहुत बड़े व्यंग की तरह से जान पड़ी।

इतने पास होकर भी गांव और शहर कितने दूर थे। शहर जैसे गांव पर अपने आप को पोस रहा था। गांव में शहर की बुराइयाँ और खराबियाँ बराबर घुसती जा रही थीं।

सारा प्रवाह शहर की ओर था। पर शहर में जैसे पानी का ठहराव था। उससे आगे मुक्त सागर जैसा कल्लोल कहीं नहीं था। वह सड़ा हुआ पोखर —शहर!

गांव के झरने की उसे याद हो आई। वह भी गुनगुनाने लगा।

परसोतम ने याद दिलाई तब वे बड़ी रात बीते घर लौटे।

[१०]

शरण को कविता लिखने की सूझी। कुमारी कामना के साथ उसका प्रेम-भंग शायद कारण हो। पर उसने जो कुछ लिखा वह अपने मित्र मनोहर को उसने दिखाया। वह कुछ इस प्रकार से था। पढ़ते समय बीच-बीच में मनोहर अपनी विचित्र संदेहशील अभावुकता से अपनी राय व्यक्त करते जाते जो उन्हें पसंद नहीं आया। शरण बोले—पहले पूरी चीज सुन लो, बाद में अपनी राय देना······

मनोहर ने हट की—बीच-बीच में बात करने से आपकी कविता का महत्त्व कम हो जाता है क्या?

शरण ने उत्तेजित होकर कहा—यह बात नहीं है। फूल को सूंघने के बजाय तुम उसकी पंखुड़ी-पंखुड़ी तोल डालते हो। यह कहां की रसज्ञता है, यह कहां की बुद्धिमानी है?

मनोहर ने कहा—तुम कवि लोग अपनी आलोचना जरा भी सुनना पसंद नहीं करते—यह क्या बात है। क्यों इतने संवेदनक्षम है आप ?

शरण ने कहा—आलोचना के पीछे स्पिरिट कैसी है—यह हम देखते हैं। अगर सचमुच में तुम्हारी यह इच्छा हो कि हम सुधरें तो तुम्हारी बात का कोई मूल्य है। वर्ना क्या रखा है। दोष तो हर एक में ही देखे जा सकते हैं ?

मनोहर—तो क्या कवि मुरारी की तरह मैं भी गर्दन हिलाकर दांत निपोर कर—'हैं-जी, हैं-जी महाराज, हम तो कविता में कछू समझते नहीं, कहूँ—?

शरण—यह नकली विनय दिखाने की बात नहीं है। पहले सुनो।

मनोहर—अच्छा, तो सुनाओ।

शरण बोलो—सुनो कविता का नाम हैं—'तुषार'–जैसे कण-कण अलग होते हैं–इसमें कई भाव-कण संजोये हुए हैं। सुनो :

वादक ! है मुझमें तुझमें
धुंधला सा पर्दा झीना,
मेरा यह अल्हड जीवन
तेरी ही नन्हीं वीणा,
तेरी अंगुलि छूते ही
बस फूट पडे स्वरधारा,
जिसकी मादक से लय पर
यह सहम उठे जग सारा,
इन प्राणों की प्याली में
तेरे झंकृति की हाला,

पी बेसुधसी दुनिया का
अपनापन हो मतवाला,
मेरे गीतों के सावन
सतरंगी सी स्मिति रेखा,
संसार-शिखी मस्ताना
किसने नृत्यातुर देखा ?

[११]

कविता जब पूरी हो गई तो दोनों थोड़ी देर स्तब्ध बैठे रहे। शरण इस मत का था कि कविता पर बहस नहीं होनी चाहिये। खास तौर से व्यक्तिगत भावनाओं को लेकर लिखी कविता पर।

पर मनोहर से न रहा गया। उसने कहा—यह रहस्यवादी खोखल है ! पीछे तो वही अतृप्त वासना है।

शरण चुप रहा।

मनोहर ने कहा—शायद तुम इस बात पर बोलना नहीं चाहते। पर मेरी बात गिरह बांध लो शरण, यह भावुकता अधिक दिनों तक तुम्हें साथ नहीं ले जा सकती। यह तो निरा इन्द्रजाल है। बचपना है।

शरण ने कहा—यह बुजुर्गी आपने मजदूर-संघ में काम करते-करते सीखी है क्या ?

मनोहर ने कहा—देखो शरण, तुम्हारे लिए आत्मा का झीनापन वगैरह फौरी सवाल है, मेरे लिए यह जरूरी है कि आज मैं हेड सर्जन से मिलने जाऊं और पता चलाऊं कि ये जो महामारी यहाँ पास के शहरों तक चली आई है वह कैसे रोकी जा सकती है। जान बचाने का कोई नुसखा तुम्हारे पास है ?

शरण उदासी से भरा मुस्करा भी दिया। मानो सप्रश्न भौंहों से पूछ रहा हो—कविता क्या प्राणों का संजीवन नहीं है ?

लिजा और फादर डिक्सन किसी काम से इन्दौर आये। और मनोहर से मिलने चले आये।

मनोहर के लिए यह अकस्मिक संयोग एक विचित्र घटना थी।

मजदूर बस्तियां देखी। मनोहर की रात्रिशला प्रौढ़ों के लिए जो थी, वह देखी। और भी बहुत से कल्याण-कार्य देखे। और जब शाम को सब लोग खाने पर बैठे तो बहस छिड़ गयी। जिसमें कई महत्वपूर्ण प्रश्न भी खुद-ब-खुद आ गये—

मनोहर नें कहा—आप ईसाइयों के लिए तो अच्छा है कि दुनियां की खराबी और बुराई का सारा दोषारोपण अपने प्रथम पाप पर डाल दिया। आदम-हव्वा बुरे थे–इसलिए आज भी हम उसी गलती को भुगतते जा रहे है।

लिजा ने बात काटकर कहा—इसमें ईसाई या अईसाई की बात क्या है ? मनुष्य में पाप के प्रति एक विलक्षण आकर्षण अवश्य है।

मनोहर ने कहा—कहिये देवी जी, आपने भी कोई पाप किया है ?

फादर डिक्सन ने कहा—ऐसा कौन इन्सान है जिसने पाप न किया हो। पर सवाल यहां पाप क्यों और क्या का उतना नहीं, जितना उससे मुक्ति का है। अब ये तुम्हारे बड़े-बड़े सेठ हैं। पैसा पता नहीं कैसे कहां से कमाते हैं। धर्मशाले बांधकर संतोष कर लेते हैं कि वे पाप से मुक्ति पा गये। क्या यह इतना सरल है ? दान क्या ऐसे संभव है ?

मनोहर—दान तो वह चीज देना कहलाती है, जिस पर ममता हो, स्वत्व हो। किसी की कमाई, पुश्तैनी जमीन तीसरे को दे दी–इसमें देने वाले का क्या घटा ?

लिज़ा ने कहा–हर दान पवित्र और श्रेष्ठ है–क्योंकि उसके पीछे एक भावना है। वह हड़पने के और अपने आप में सब कुछ मुट्ठी में भींच लेने के स्वार्थ से भिन्न है। इसलिए उसकी ओर श्रद्धा से देखो···

मनोहर ने कहा– नहीं, मेरा इस झूठे दान पर विश्वास नहीं, जिससे दंभ पोषित होता है। देश में इतने भिखमंगे हैं ही इसीलिए···'

फादर डिक्सन ने दूसरी बात छेड़ी-'परन्तु आत्मदान का तो तुम महत्व मानोगे। जिन लोगों ने कोढ़ियों की सेवा में सारा जीवन बिता दिया उन्हें तुम क्या कहोगे?'

लिजा की आंखों में आंसू आ गए–''और तब असीसी के संत फ्रांसिस ने कहा कि मित्र अग्नि! आओ! तुम्हारा स्वागत करने के लिए यह हृदय खुला है, इसे जला दो! मित्र अग्नि–आओ यह आंखों की रौशनी तुम बुझा दो! क्योंकि आज की आग के ये दाग आगे आने वाले कितने लाखों आँसुओं को पोंछनेवाले बनेंगे।···

वातावरण में जैसे एक पवित्र घनता पैदा हो गई। और बड़ी देर तक कोई कुछ नहीं बोले–

जब खा पी चुके तो एक विद्यार्थी मनोहर से मिलने आया। उन लोगों ने एक नाटक-मंडली बनाई थी। और वे चाहते थे कि कोई हास्य-व्यंग से भरा, आधुनिक युवकों के निकम्मेपन पर व्यंग करने वाला नया नाटक यदि मनोहर ने लिखा हो तो वह दे। वे खेलना चाहते हैं।

मनोहर ने सोचा और कहा–अगर शकुन्तला नये ढंग से फिर से लिखी जाय तो कैसी रहेगी!

विद्यार्थी बहुत प्रसन्न हुए। बोले–विषय जो भी लीजीये, मनोरंजक होना चाहिए।

मनोहर ने हामी भरी कि पंद्रह दिन बाद उसकी पांडुलिपि उन्हें देगा। और विद्यार्थी चले गये।

अब मनोहर के नाटक के बारे में बहुत दूसरे विचार हैं। ज खेला न जा सके, वह कैसा नाटक? असल में वह नाटक न होकर एक पाठ्य-ग्रंथ बन गया—जैसे कि ग्रंथालयों में सैंकड़ों ग्रंथ हैं।

और जो खेला जाय उसमें जिंदगी की झलक भी तो जरूरी है। उसके बिना वह कागज के फूलों की तरह निर्जीव और निर्गंध हो कर रहेगी।

जब डिक्सन और लिज़ा जाने लगे तो मनोहर उन्हें क्रिसमस की छुट्टियों में इधर आने के लिये दावत दी। तब तक यह नाटक भी शायद खेल लिया जाय।

फादर डिक्सन ने जाते-जाते पूछा—मनोहर, तुम दर्शन के विद्यार्थी रहे। तुम्हारा मन इस काम में लगता है? सचसच कहो?

मनोहर ने कहा—पहले नहीं लगता था, अब तो कुछ लगने लगा है।

डिक्सन—यह आदत की तरह अच्छा लगना काफी नहीं है। मनोहर, किसी भी सफल काम के पीछे आत्म-दान जरूरी है। वह आत्मीयता से आता है...

मनोहर—वह अभी मैं इसमें नहीं अनुभव करता।

लिज़ा—तुमने जीवन भर किसी भी "cause' के लिये कुछ भी करना सीखा है?

मनोहर...'काज' के लिये तो नहीं—पर हाँ उसे करने वाले व्यक्ति के लिये मैं कुछ भी कर सकता हूँ।

लिज़ा—पर व्यक्ति की भी तुम्हें परख है? नहीं तो शरण और

कामना की बात तुम्हीं ने सुनाई । कविता लिखने से प्रेम की पूर्ति नहीं होती।

फादर डिक्सन बोले—महनीय प्रेम त्याग चाहता है वहां प्रत्याशा व्यर्थ है।

मनोहर ने गर्दन झुका ली। जैसे वह मन ही मन कहता हो कि—नहीं-,नहीं। ऐसा प्रेम उसने कहीं अनुभव नहीं किया है।

औपचारिक नमस्कारादि होकर मनोहर ने लिज़ा और उसके वेपिता को विदा दी।

फिर वह अपने अध्ययन-कक्ष मे आकर विचार में डूब गया। यह जो महनीय प्रेम की बात हम अब तक हमारे मन से चिपटाये हुये हैं—क्या यह केवल एक मधुर क़िस्सा नहीं है। सिर्फ एक परी-कथा। यह जो बड़े-बड़े ऐतिहासिक और जनगाथाओं के प्रेमिक हुए हैं, ये दुष्यंत-शकुन्तला, और हीर-राझा, और लैला-मजनू, और शीरीं—फरहाद, और सोहणी—महीवाल—क्या ये सब हमारे मन गढंत क़िस्से नहीं हें?

आज की साँचे-बंधी जिंदगी में क्या वैसा प्रेम सम्भव है?

यंत्र-युग में आकर क्या प्रेम की परिभाषा बदल नहीं गई?

या वही स्थायी; शाश्वत, चिरंतन मन के बन्धन बाकी हैं। और उन्हीं का निरंतर संघर्ष, इस हमारी खामखयाली से टकराहट होती रहती है—नित्य के, सहसा-परिवर्ती, बुदबुद् जैसे भंगुर और पारे जैसे चंचल जीवन के बदलते-बदलते मानव-संबंधों पर?

मसलन यह मेरी संस्था है और मैं हूँ। मैंने एक बॉंड भरा है। आजीवन तीस रूपये पर सेवा करूंगा। कल न मानूं तो क्या होगा?

बंझूराम जी कहेंगे—'मनोहर कम्यूनिस्ट हो गया।'

श्रीमान् जी गीता का शब्द काम में लायेंगे—'मनोहर व्यामोह में फंस गया।'

और वे मनोहर में अच्छाई की सम्भावनाएँ देखना खो देंगे। मनोहर उन सब की नजर में गिर जायगा। शरण की भी। उसके बदले उन्हें उनकी आज्ञा मानने वाला, बुद्धू, उससे कई गुना कम गुणी, हां-में-हां मिलाने वाला खुशामदी 'अ' पसंद होगा?

पर वही मनोहर कल फिर किसी देश के महान नेता के निकटतर पहुँचा। उसके आशीर्वाद से विवाह कर के बड़ा या बड़ी जगह पर पहुंचा—तो ये ही बंझूराम जी, श्रीमान् जी आदि और उसके मित्र शरण तक उसमें अच्छाई खोजने लगेंगे।

दुनियां की तराजू के पलड़े इतने धोखा देने वाले हैं? हम उसी तराजू को धरम-काँटा माने चल रहे हैं।

अन्तर के विवेक की एक आँख फूट चुकी है। और हम दुनियाँ को अंधता से दृष्टि-लाभ की ओर ले जाना चाहते हैं। कैसी विडंबना है!

यही सोचते-सोचते पता नहीं कब मनोहर सो गया।

समय आने पर उसने दुष्यंत-शकुन्तला का आधुनिक संस्करण लिख दिया। वह यों था—

उद्घोषकः—हम और आप शेखचिल्ली हैं। हम सब वही होना चाहते हैं, जो हम नहीं हैं। प्रेम, और सोमा कालिज़ में पढ़ने वाले एक आधुनिक युवक और युवती एक ऐसे काल्पनिक उद्यान में पहुंच जाते हैं जहां जिस काल में आप जाना चाहें, जा सकते हैं।

सो वे पहले वैदिक काल में गये और पुरूखा-उर्वशी बनने की कोशिश में उनकी कैसी फजीहत हुई सो हम सुन चुके हैं। आज वे उस उद्यान में आ पहुँचे हैं।

प्रेमः-'मुंह से सीटी बजाता हुआ' शाम हो गयी और सोमा अभी तक नहीं आई। एपांइटमेंट तो दी थी। भूल गई क्या ? हां, सब कुछ मुमकिन है। (फिर मूर्ख की तरह समय काटते सीटी बजाता है)।

सोमाः-(हांफती हुई) आह,आ ई एम वरी सोरी। मुझे देर हो गयी बात यह थी ज़ो कि घर में मेहमान आ गये औरफुफ्फोने........

प्रेमः-यह सब बहाने बनाना छोड़ो। तुमने मुझको भुला दिया है, तुमने मुझको भुला दिया है।

सोमाः-तुम भी तो कविता करने लगे क्या !

प्रेमः-हां आजकल बेकार ही रहता हूँ। तुम जानती हो सोमा एम.ए. डिप्लोमसी में कर चुका हूँ नौकरी मिलती नहीं। बेकारी में समय काटने को जैसे सिगरेट फूंकना, सीटी बजाना, प्रेम गीत या विरह गीत लिखना अच्छा शुगल रहता है।

सोमाः-तुम ताश नहीं खेलते क्या ? बात यह है कि ताश खेलें किससे ? हम ठहरे चिड़ी के गुलाम और कोई क्वीन आफ हार्टस ही नहीं मिलती।

प्रेमः-मैंने ज्यादा पढ़ा नहीं है। परीक्षा के पहिले कुछ थोड़े नोट रट रटा लेता था। वैसे सुना है शेक्सपीयर, वर्डस्वर्थ, चर्चिल, बर्नाड शा वगैरह ने कविता बड़ी उमदा लिखी है।

सोमा-(हंसकर) तुम पूरे बुद्धू हो। चर्चिल ने या शा ने कहीं कविता लिखी है ? हमारे देश में कौनसा कवि और नाटककार ऐसा हो गया है जिसको चांज बहुत प्रसिद्ध हैं ?

प्रेम–हमारे यहाँ 'सोमा', हमारे यहाँ ? जरा सोच लेने दो। थोड़ा सोचने का मौका दो न। सच कहूँ मैं अपने यहाँ की चीजें बहुत कम पढ़ता हूँ। पढ़ने लायक ही नहीं होती। एकाध चवन्नी–छः आने वाली किसी कहानी का रिसाला पढ़ लेता हूँ। उसमें जरा लजीज रोमांस की चीज होती है। वैसे मुझे इल्म नहीं कि अपने देश में भी कोई बड़े कवि, नाटककार हुए हैं।

सोमा–प्रेम, तुम्हारा अपने देश के प्रति प्रेम बहुत सराहनीय है।

प्रेम–क्या कहूँ सोमा, समय ही नहीं मिला। कोर्स ज्यादा था। खेलते रहे, जनरल रीडिंग की ही नहीं। बचपन से पढ़ाई ही ऐसी रही! जाग्राफी, साउथ अमरीका और अफ्रीका की पढ़ी। बाद में हिस्ट्री योरुप की। फिर फिजिक्स, केमिस्ट्री, ट्रिग्नामेट्री। बाद में बारबारा सिवेरेंट ड़ेरी आई फेरियो, पढ़ता रहा। फिर रोमन ला पढ़ा। बी० ए० में मैंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ली थी। एम० ए० में तो डिप्लोमेसी से पास हो गया। वर्ना कभी पास होता भी ? अब बोलो कब पढ़ता तुम्हारे संस्कृति के कवि और पाली अर्द्धमागधी अपभ्रन्श आदि के रचनाका...

सोमा–वह कुछ नहीं 'प्रेम', तुम कालिदास पढ़ो। वर्ना तुम्हारा नाम व्यर्थ है।

प्रेम–हां हां, कालिदास का जिकर सुना था। बड़ा लिखने वाला हो गया। बहुत अच्छे अच्छे गाने उसने लिखे हैं। हमने तो भाई फिल्म में देखा था। क्यों, उसकी बीबी का नाम शकुन्तला या कुछ ऐसा ही था न ?

सोमा–तुमने कालिदास का शकुन्तला नहीं पढ़ा है ? अभिज्ञान शाकुन्तलम् ? व्यर्थ है तुम्हारा जीवन। जर्मन महाकवि गेटे तक उस पर मुग्ध होकर.....

प्रेम—कौन जर्मन सिल्वर कवि तुम बोली ? वाकयी तुम्हारा सजेशन अच्छा है। मुझे आर्टिस्ट या कवि वगैरह बनने से पहिले कुछ ये बड़े बड़े नाम वाले पोस्टर्स पढ़ लेने चाहिए। कम से कम इनके बारे में कुछ गपशप करने लायक जानकारी हो जाय तो बुरा नहीं है। मगर तुम जानती हो कि मैं किस कदर भावक हूँ। मैं समझता हूँ कि अधिक अध्ययन से मेरी मौलिकता नष्ट हो जायगी। इसलिये मैं केवल अपने नाम को ही सार्थक करता हूँ (गुनगुनाता है)

इश्क नाजुक मिजाज है बेहद

अक्ल का बोझ संभाल नही सकता।

(......दृश्य परिवर्तन......)

उद्यान संचालक—आओ बच्चो ! आज तुम्हें कालिदास की वीथी में ले चलता हूँ। इधर से आओ-जरा धीरे धीरे धीरे। बस अब तुम महर्षि कण्व के आश्रम में आ पहुँचे। तुम कहोगे कि यह कैसे जाना ? यह तुम्हें चिन्ह नहीं दिखाई देते देखो—पेड़ों के नीचे मुनियों का अन्न पड़ा है। तोतों के मुंह से अधचाखे फल जो गिरे हों वही उनका अन्न है। चिकनी शिलाएं दिखाई दे रही हैं। इन पर मुनिजन इंगुदि फल पीस रहे हैं। यहाँ मनुष्यों से हिरन हिल गये हैं। यहाँ नदी के किनारे पगडंडियां दिखाई देने लगीं और नये पल्लव धुंधराये हैं क्योंकि उनपर होम का धुंआ आया है। इसी आम्र-भूमि में उपवन हैं जहाँ ऐसे मृग छौने निधड़क घूम रहे हैं कि जिनके कटि के दाग नहीं रहे, क्योंकि उनके मन में कोई शंका नहीं है, यहाँ नित्य ही वनमहोत्सव है, क्योंकि तपस्वियों की कन्याएं और पालित आश्रम बालिकाएं अपने अपने वित्त-अनुसार कोई छोटी कोई बड़ी गगरी लिये पौधे सींचने को आती हैं। धन्य है ! कैसा मनोहर इनका दर्शन है ? अब यहीं यहीं आधुनिक

सोमा प्राचीन शकुन्तला बनी अपने सखी से वार्तालाप में निमग्न जा
पड़ती है.........

(स्त्रियों का समवेत स्वर)

सखी–शकुन्तले ! तुम कितनी अच्छी लगती हो ?

सोमा–मुझे तो शर्म सी लगती है। ये तीन 'अंशुकों से कैसे का
चला लेते होंगे। पेड़ों की छाल वैसे है तो नरम पर न जाने कैस
जंगलियां सी लगती होगी।

सखी–नहीं, नहीं शकुन्तला जैसे कमल सिवार से ढकने पर भ
सुन्दर दिखाई देता है। जैसे चन्द्रमा कलंक से भी विभूषित होता है
वैसे ही ये वल्कल भी आप पहने हैं तो क्या, मूलतः जो सुन्दर है वह
निरलंकृत भी सुन्दर ही है।

सोमा–जाओ, तुम बड़ी वैसी हो ! देख हवा से बकुल के पत्ते कैसे
हिल रहे हैं। मानो वह मुझे अंगुलियों से अपने पास बुला रहे हैं। मैं
जाती हूं उसका भी मन रख आऊं।

सखी–हे शकुन्तले ! देख यह नई चमेली जिसका नाम तुमने
वन-ज्योत्स्ना रखा है, इस आम की कैसी स्वयंवर-वधू बनी है। क्या
तू इसे भूल गयी।

सोमा–जो इसे भूल गयी तो मैं अपने आपको भी भूल जाऊंगा।
सखी, अच्छी ऋतु में ये लता वृक्ष मिले हैं।

सखी–वृक्षों-वनस्पतियों, कीटकों, पक्षियों, पशुओं सबको प्रेम
मिलन के लिये निश्चित ऋतु हैं। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिस के
लिये सब ऋतु एक समान है।

सोमा– (घबड़ाकर) यह भौंरा मेरे पीछे लग गया है। मैं भागती
हूं। मुझे बचाओ, बचाओ।

सखी–हम बचाने वाली कौन हैं। राजा दुष्यन्त की दुहाई दे वही बचायेगा। क्योंकि तपोवनों की रक्षा राजा के सिर होती है।

दुष्यन्त– (सहसा आकर) हे सुन्दरी, तेरा तपोव्रत तो सफल है।

सखी–यह आश्रम-कन्या है सो लजाती है? आप जैसे अतिथि आये फिर क्यों न तपोव्रत सफल होगा।

सोभा–चुप भी रहो मैं लजाती वजाती कुछ नहीं।

सखी–सखी जाओ कुटी से कुछ फलफूल-अर्घ ले आओ।

सोभा–अरी चुप रहो। सब खतम हो गया है।

प्रेम–नहीं, नहीं मुझे कुछ नहीं चाहिए। आपके मीठे बोलने से ही अतिथि-सत्कार हो गया। (धीमे से) वैसे घर में शुगर कोटा समाप्त हो ही रहा था। आपकी बातों की मिठास से वह पूरा हो जायगा।

सखी–आइये. आप इस सप्तपर्ण की छांह के तले बैठिये। इस शीतल चबूतरे पर बैठकर विश्राम कीजिये।

प्रेम—आप भी इस काम से थक गयी होंगी। आइये आप भी बैठिये।

सखी—हां, हां, शकुन्तला आओ, अतिथि के पास बैठना हमें उचित ही है। आओ यहाँ बैठें।

प्रेम–सचमुच मैं कालीदास के कल्पना लोक में पहुँच गया। वर्ना आजकल अतिथि को देखकर हम नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं! मेहमान एक और मुश्किल होती है। धन्य हो आश्रम की लड़कियाँ? समान वयस, और समान रूप में तुम्हारी आपस की प्रीति बड़ी अच्छी लगती है।

सखी–आपकी बातचीत से विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने

को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो ? और किस देश की प्रजा को विरह में छोड़ यहां पधारे हो ?

प्रेम–जी नहीं, जी नहीं, मैं कहीं भी किसी भी रियासत का यानी जो अब विलयन में आ गयी ऐसी किसी रियासत का राजपुत्र नहीं। और मान लीजिये मैं होता भी तो मेरी अनुपस्थिति से प्रजा हमारी सुखी ही होती। राजा के रहते भारतवर्ष में प्रजा इतनी सुखी नहीं रहती, जितना आप सोचती हैं।

सखी, क्या कारण है कि जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।

प्रेम–अब मैं आपसे क्या बताऊँ ? हे ऋषि कुमारी ! पुण्यवंशी राजा ने मुझे राज के धर्मकाज सौंप रखे हैं इस लिये यहां आश्रम में आया हूँ कि देखूं तपस्वियों के काम में कुछ विघ्न तो नहीं होता।

सखी—हे शकुन्तला, यदि आज पिता जी घर होते तो अच्छा होता।

सोमा–(रिस से) तो क्या होता ?

सखी–तो इस अनोखे पाहुने को प्यारी से प्यारी वस्तु देकर भी कृतार्थ करते।

सोमा–चलो, हटो भी। तुम मन से बात गढ़ कर कहती हो। मैं तुम्हारी न सुनूंगी।

प्रेम–हे युवतियो ! अब मैं भी तुम्हारा वृतान्त पूछता हूँ

सखी–अजी यह भी तुम्हारा अनुग्रह है।

प्रेम–यह कौन है ?

सखी–यह कण्व ऋषि की बेटी शकुन्तला है।

प्रेम–कण्व महर्षि तो सदा के ब्रह्मचारी हैं फिर यह तुम्हारी सखी उनकी बेटी कैसे हुई ?

सखी–अजी सुनो, कुशिकवंशी एक बड़ा पुरुषोत्तम राजर्षि है।

प्रेम–हां मैंने राजर्षि के बारे में सुना है।

सखी—हां उन्हीं से हमारी सखी की उत्पत्ति जानो। और कण्व जी इसके पिता इस लिये कहते हैं कि पड़ी हुई को उठा लाये थे और उन्होंने पाली पोसी है।

प्रेम—पड़ी हुई।

सखी—उस राजर्षि ने जब गोमती नदी के तीर पर बड़ा उग्रतप किया तो सुनते हैं कि देवताओं के मन में कुछ शंका हुई। सो उनका तप बिगाड़ने वाली मेनका नाम की अप्सरा उसके पास भेजी।

प्रेम—सच है देवता औरों की तपस्या से डर जाते हैं। भला फिर क्या हुआ ?

सखी—आगे की बात क्या कहने की है। वसन्त के आरम्भ में मेनका की उन्मादिनी छवि निरखते ही...

प्रेम–बस,बस, आगे मत कहो ? मैं समझ गया। तो यह अप्सरा-जात है।

सखी—हां जी।

प्रेम—ठीक ही तो है ऐसा रूप कहीं मानव से उत्पन्न हो सकता है ? धरती से बिजली कभी नहीं निकलती।

सोमा—हां बादल से निकलती है या पानी से। पर बिजली-घर तो अक्सर धरती पर ही होते हैं।

प्रेम—चुप रहो सोमा, हम कालीदास की शकुन्तला के काल में हैं। बिजली घर वाली बिजली का भूल

सोमाः—बिजली न होगी तो रेफ्रिजेरेटर कैसे चलेंगे और आइस्क्रीम से मिलेंगे और कोल्ड-ड्रिंक।

प्रेमः—हे शकुन्तले! मुझे हिमखंड युक्त पेय आशन की प्रबल इच्छा जो हुई है, वह समझ सकता हूँ। पुष्प लताओं को अभिसिन्चित करने से जो तुम्हें श्रम हुआ है उसका परिहार आवश्यक है और मैं कैसे कहूँ कि...

सखीः—हाँ कुछ पूछने की मन में जान पड़ती है।

प्रेमः—हाँ कुछ पूछना चाहता तो हूँ पर कैसे पूछूं? प्रेम के व्यवहारों को बिगाड़ने वाला वैराग्य है, सो तुम बताओ कि शकुन्तला इस वैराग्य को विवाह तक ही सहेगी अथवा जन्म भर अपनी-सी आँखों वाली हरनियों में बिना व्याहे रहेगी?

सखीः—अजी व्याह की बात भली चलाई। हमारी सखी तो धर्म कर्म से पराये वश में है फिर भी पिता का संकल्प है कि समान वर मिले तो इसे व्याहलें।

प्रेमः—यह संकल्प पूरा होना बहुत कठिन नहीं। अखबार में वर चाहिए का विज्ञापन दे दिया जाय।

सोमाः—ले सखी, मैं तो जाती हूँ।

सखीः—क्यों जाती हो?

सोमाः—मैं गोमती से जाकर कहूँगी कि मुझ से अनकहनी बात कहती है।

सखीः—यह तो उचित नहीं कि तू ऐसे अनोखे पाहुने को बिना सत्कार किये छोड़कर चली जाय।

प्रेमः—अहा: मनुष्य के मन की बात बाहर के चिन्हों से ही प्रकट हो जाती है ऐसा बिहेवियारिस्ट साइकालोजिस्ट कहते हैं। मुनि-सुता के

पीछे मैंने चलना चाहा परन्तु मर्यादा ने रोक लिया। यद्यपि स्थान से उठा नहीं था। तो भी ऐसा जानता हूँ मानो कुछ चल कर लौट आया।

सखीः—ये दो वृक्ष और सींचकर हम चलेंगी। वन-महोत्सव पूरा करलें।

प्रेमः—पानी सींचने के घड़े उठाते-उठाते हथेली लाल हो गयी है। करनफूल हिलता नहीं है क्योंकि पसीने से उसकी पंखड़ी कपोल से चिपक गयी है। और जूड़े की गाँठ खुल गयी है इससे बालों को एक हाथ में थाम रही है।

सोमाः—तुम यहाँ शिकार करने आये जान पड़ते हो। आश्रम में शिकार करना मना है यह तुम जानते हो?

प्रेमः—हाँ कभी-कभी यह भी शौक कर लेता हूँ, मन को समझाने के लिये बहेलिया नहीं हूँ। पर जी बहलाने के लिये यह ख्याल अच्छा है!

सोमाः—मैं शिकारियों से नफरत करती हूँ।

प्रेमः—ओडि एट् आओ। क्वार इड पशियस, फोर्टस्से रिक्वाइ-रिस नेस्सियो सेड फीहरी सेंटियो एट् एक्स-क्रूशिओर।

सोमाः—देवभाषा बोलने के बजाय यह तुम किस बोली में बोलने लगे। क्या भूत भगाने का कोई मन्तर तो नहीं पढ़ रहे हो।

प्रेमः—हे शकुन्तले मैं लैटिन का उद्धरण बोल रहा हूँ। इसे कैटिलस ने लिखा है। इसका अर्थ है मैं नफरत करता हूँ और प्रेम भी करता हूँ। शायद तुम पूछोगी कि मैं ऐसा क्यों करता हूँ? मैं नहीं जानता मगर मैं ऐसा अनुभव अवश्य करता हूँ। तो यह जो

नफरत की बात तुमने कही। यह एक तरह प्यार ही होता है।

सोमा:—मैं तुम्हारी बकवास नहीं सुनना चाहती। मैं जा रही हूँ।

प्रेम:—अच्छा तो यह अंगूठी तो पहनती जाओ।

सोमा:—अच्छा देखूं ? ओहो, इस पर तो दुष्यन्त राजा का नाम लिखा हुआ है।

प्रेम:—इसे लेने में तुम संकोच मत करो कि यह राजा की वस्तु है क्योंकि मैं भी तो राज-पुरुष हूँ। मुझे यह राज ही से मिली है।

उद्यान संचालक:—दुष्यन्त शकुन्तला बनने का समय समाप्त होता है। जैसे वेदकाल में प्रेम मुक्तरूप से होता है। कालिदास काल में भी स्त्रियां की स्थिति बहुत ऊंची नहीं थी। पर प्रेम और सोमा तुम उस युग में कब तक रहना पसन्द करोगे ? तुम तो ऊब जाते हो, पुराने जमाने से जल्दी ही थक जाते हो। आओ यही १९५० का पार्क है और काफी हाउसेज हैं और वहाँ से अर्थ-शून्य सनीमाई गाने बराबर जोरों से रेंक-रेंक कर रंया रंयाकर तुम्हें बुला रहे हैं, तुम्हें बुला रहे हैं।

[१३]

नाटक देखकर डिक्सन और लिज़ा का बड़ा मनोरंजन हुआ। उन्होंने मनोहर को ऐसा व्यंगपूर्ण नाटक लिखने पर बधाई भी दी। पर नाटक शरण को, कतई अच्छा नहीं लगा। उसका ख्याल था कि मजदूर संघ में काम करने वाले उस जैसे आदर्शवादी युवक को यह सब नहीं दिखाना चाहिये। भारतीय संस्कृति का इससे अपमान होता है।

मनोहर ने उसके साथ इसलिये बहस नहीं की कि भारतीय संस्कृति शब्द की इस देश में मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना अलग-अलग परिभाषाएं हैं।

विद्यार्थियों के नाटक के बाद मनोहर सोचने लगा कि ऐसी ही कोई चीज मजदूरों के लिये क्यों नहीं की जा सकती ? उनमें से अज्ञान जहालत, अंधश्रद्धा, गंदगी और व्यसनासक्ति कम करनी हो तो रंगमंच बड़ा प्रभावी अस्त्र सिद्ध हो सकता है ? पर यह काम तभी हो सकता है जब उन्हीं में से लेखक निकलें और उन्हीं में से नाटक खेलने वाले।

इधर केशो और मनोहर की मैत्री हो गई थी।

बार-बार उनकी मुलाकात होती। और दोनों एक दूसरे की ईमानदारी से प्रभावित थे। मनोहर न केवल मजदूरों का हित चाहता था—पर उसके लिये आजीवन सब कुछ करने को तैयार था। केशो के मन से भी वे सब नेता बनने के सस्ते सपने मिट चुके थे, जो लाल झंडे वाली यूनियन ने उसमें लहकाये थे।

कि इस बीच में एक ऐसी बात घटित हुई जिसने उसके आदर्शवाद के प्रति सारे विश्वास को मुलतः झकझोर दिया।

मनोहर और लिज़ा का प्रेम बढ़ते बढ़ते ऐसी सीमा तक पहुँचा कि लिज़ा ने मनोहर से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। लिज़ा विदेशिनी थी, विधर्मिनी थी, भिन्न संस्कृति वाली थी। यह सब होते हुये भी, घर वालों की किंचिन्मात्र परवाह न करके मनोहर उसे अंगीकार कर लेता। कि उसे सहसा ख्याल हो आया 'कि 'आजीवन ब्रह्मचारी रह कर ३०) महावार पर मजदूरों की सेवा करने का जो बौंड उसने भर दिया था, उसके कर्ताधर्ताओं से भी तो वह सलाह ले।

श्रीमान् जी आये हुये थे। मनोहर शरण को लेकर वहाँ पहुँचा। स्वयं विषय कैसे खोल कर रखता ! शरण ने बात छेड़ी।

श्रीमान् जी ने सुना। गंभीर मुद्रा बना कर बोले—मिशनरी

लड़की है ? युरोपियन ? अवश्य जासूस होगी ? यह विवाह और मजदूर-संघ का कार्य एक साथ आप नहीं कर सकते।

मनोहर ने बहुत समझाने की कोशिश की कि इस तरह से उसकी कार्यशक्ति दुगनी हो जाएगी। मजदूरों की वैद्यकीय सेवा में उसका सहयोग भी उसे मिलेगा, पर श्रीमान्‌जी सुनने के 'मूड' में ही नहीं थे। वे बोले—'हम ने सफेद चमड़ी वाले गोरों के खिलाफ जिहाद छेड़ रखा है। और तुम कहते हो कि काले और गोरों का इस तरह मेल हो ? नामुमकिन...

मनोहर ने कहा—'मनुष्य तो काले गोरे से ऊपर है। और यहां मेरे उसके प्रति आकृष्टि होने का, या शारीरिक लिप्सा का नहीं—परन्तु उसकी ओर से प्रस्ताव का है।'

श्रीमान् जी ने बड़ी गहरी जैसे भांपी हो यों गुन कर कहा—'ये सब बातें मैं समझता हूँ। ये सब आप ही की कराई करतूत है, आप ही की लगाई आग है। आपको विवाह करना हो चाहे नहीं-पर अब ऐसे चलित-चित्र व्यक्ति को हमारे संघ में स्थान नहीं है।

मन ही मन मनोहर ने कहा—'मैंने सब बातें साफ इन्हें कह दीं तो ये उलटे मुझे डाँटने लगे। मनोहर जो कविता के रूप में अपनी प्रेम-भावना के साथ प्रवंचना करता है, वह इन्हें पसंद है! उसका जी न जाने कैसा-सा हो आया। वह वहाँ से उठ आया।

चंदूराम जी ने जब बात सुनी तो उनकी प्रतिक्रिया और भी भयानक हुई। बोले—मैं पहले ही से कहता था—इन पढ़े-लिखे बाबुओं को हमारे काम में न लो। ऐसा ही होगा। यहां तो हमारे जैसे लठ लोगों की जरूरत है। जिनपर कोई असर किसी नेत्र-कटाक्ष का नहीं होता, न किसी कविता की पंक्ति का...

शरण ने उसे बड़ी सहानुभूति बताई। और उसकी मदद करने की भी कोशिश की—पर वह सम्भव न हो सका ।

मजदूर-संघ भी एक तरह का साँचा था जैसी और संस्थाएँ होती हैं। व्यक्तित्व वहां दब-कुचल कर मिट जाता है, उभरता नहीं। संस्थावाद और व्यक्तिमत्ता का जैसे ३ और ६ का सम्बन्ध है यही कारण है कि हमारे देश में हजारों संस्थाएँ कुकुरमुत्तों सी पनपती हैं—उत्पद्यंते–विलीयन्ते—व्यक्तित्व यहां बहुत थोड़े हैं !

व्यक्तित्व का अर्थ है अंदर की इकाई।

बाहर खंडित करनेवाले इतने साधन मौजूद हैं। जब यह बात फैल गई कि मनोहर मजदूर-संघ छोड़ देगा—त्यागपत्र दे देगा, तो कम्यूनिस्टों में से कई लोगों ने कोशिश की कि यह मेधावी, वक्ता, सुलेखक हमारी गिरोह में आ जाय।

पर वहां समीप जाकर मनोहर ने देखा कि व्यक्तित्व का इतना सुव्यवस्थित, तर्क की पीठिका देकर हनन, उसे और कहीं कम मिलेगा। वह उस राह नहीं गया।

उधर जब लिजा को पता चला कि उसी के प्रस्ताव के कारण मनोहर को इतना मानसिक कष्ट है तो उसने मजदूर-संघ के मुख्य श्रीमान् जी को पत्र लिखा, जिसका महत्व का अंश यह था—

मैंने सुना है कि मेरे कारण मनोहर के सेवा पथ से उसे विचलित किया जा रहा है।

"मैं ही उसके राह में आई। सो मैं चुपचाप हट जाती हूँ। अगले जहाज से मैं अपने मातृ देश वापिस जा रही हूँ।

मै आश्वासन देती हूँ कि जाने से पहले मैं मनोहर से नहीं मिलूंगी।"

यह पत्र जब मनोहर को श्रीमान् जी ने दिखलाया और पूछा, दुबारा पूछा—'अब बोलो ? आजीवन सेवा पथ—तुम्हें मंजूर है ?'

मनोहर ने गर्दन हिलाकर मौन नकार दिया।

उसके मन में गहरी घुमड़न थी। पर शब्द जैसे उसे साथ नहीं दे रहे थे ! श्रमिकों का हित, उसके प्रेय को काटकर जैसे सामने खड़ा था—पर कब तक ? जब तक उसका श्रेय-प्रेय एक नहीं हो जाता वह और किसी का क्या भला कर सकता था ?

या फिर कामरेड 'क'का मार्ग कि विश्व के मजदूर एक होओ, व्यक्तिगत जीवन में वेश्याओं के प्रति वासना प्रदर्शन जायज—क्योंकि तर्क यह दिया जाता था कि यह तो ह्रासोन्मुखी पूंजीवादी व्यवस्था का अभिशाप है। समाज जब तक नहीं बदलेगा, यह कैसे बदल सकता है ? सुविधाजीवी, अविवेकी, खंडित आत्माएँ......

मनोहर ने निश्चय कर लिया कि वह रास्ता उसका नहीं है। नहीं हो सकता है। कदापि नहीं—नहीं—नहीं.....

[१४]

केशो मिल के यांत्रिक जीवन से ऊब गया था। उसे इंदौर का पानी बुरा लगता था। खाना बुरा लगता था। हर चीज में जैसे एक नकलीपन था। मिलावट और बनावटीपन। उसको भूख कम लगने लगी। उसका स्वास्थ्य गिरने लगा। जिस परिवार के लिए वह यह सब कुछ कर रहा था—उससे बरसों से भेंट नहीं होती। जसमन्ती गांव में अलग दुःखी थी। उसको जचगी की समय से ही पेट का ऐसा विकार हो गया था कि अच्छा नहीं होता था। तिस पर घर का सारा काम-काज। उसकी सेहत गिरती जा रही थी। आखिरी दर्शन दे जाने की बात उसने लिखी थी।

माँगीराम की बात और थी। उस पर कोई परिवारिक जिम्मेदारी

नहीं थी। उसे बहुत सी सुखद सोहबत मिल गई थी। उसमें वह रम गया था। पर केशो का मन बार-बार गाँव की ओर उलट-उलट कर देखता—यह वह जानता था कि गांव जाकर गांव वैसा ही उसे नहीं मिलेग। फिर भी पुरातन का मोह बडी चीज है। वह हड्डियों में से भी नहीं जा सकता।

एक तरफ केशो इस सांचे से ऊबकर पुरातन की ओर जाना चाहता था। दूसरी ओर मनोहर इस सांचे से ऊबकर अभिनूतन की ओर जाना चाहता था। पर सांचे की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

इस बात को मनोहर की डायरी के अंशों से समझा जा सकता है। उसमें से चुनकर कुछ हम दे रहे हैं:

'दुनिया को धोखा दिया जा सकता है। अपने आपको नहीं।'

... ...

'काल और देश चेतना के सांचे हैं। व्यक्ति की आत्मा इनसे परे है।'

... ...

'आदमी साँचा बनाता है, पर बनाते हुए खुद साँचा बनता जाता है।

... ...

'आजीवन कुछ करने का वादा देनेवाले हम कौन होते हैं? क्या हमें पता है कि हमारा जीवन कितना बड़ा है?'

... ...

'मैंने पूरे सही और ईमानदार इरादे से कोशिश की थी श्रमिकों का सुधार हो, भला हो। अच्छे साधनों से हो। पर यहां माया ही दूसरी है। बहुत रामनाम जपनेवालों की बगल में भी छुरी है। और पराया

माल अपना करनेवाले भी कई बार साधुमना निकलते हैं। मनुष्य जैसा आत्म-प्रवंचक प्राणी कम देखने में आता है।'

... ...

'विश्व प्रेम और प्रणय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रेम को वासना से अलग करने जानने की कोशिश करना मनुष्य को देह से अलग देखने के बराबर है। शरण जो कि इतना बड़ा प्यूरिटन बनता था—अब कामना की अग्नि में झुलस गया। हर पतंगे का यही विचार होता है कि उसी के कारण शमा जल रही है।'

... ...

'हम जब राजनीति की बात करते हैं तो उसके छिछलेपन के पीछे कितनी शक्तियाँ हैं नहीं जानते। हमारे कितने अवरुद्ध, कुंठित भाव क्राँति का नारा बनकर उभरते हैं। वस्तुतः क्राँति की बात जब हम करते हैं तो सबसे अधिक क्रांति हम अपने भीतर करना चाहते हैं।...'

... ...

क्या युग किसी समाधान की तलाश में घूम रहा है?

नहीं।

वह समाधान नहीं चाहता। वह निरंतर एक असमाधानता के बाद दूसरी ईजाद किये जा रहा है।'

.. ..

"आदर्शवादी जब यथार्थ के सामने सिर झुका देता है, तो उसे हम आदर्शवादी की हार मानते हैं। पर जब यथार्थवादी आदर्शवादी को चकमा या झांसा देकर आगे बढ़ता है तो हम उसे उसकी बड़ी सफलता मानते हैं!

यथार्थ का साँचा निर्भय है ! अंधनियति का स्थान अब इसन ले लिया है।

हमारे सारे विकार-विचार 'प्रवृत्ति-निवृत्ति, संकल्प-विकल्प उसके सामने झुक जाते हैं। उसमें से होकर गुजरते हैं। विरले ही होते हैं जो उस यंत्र को लात मारकर आत्मावलंबन का मार्ग जोहते हैं। सबको यह मार्ग कैसे संभव है ?"

... ...

—और मनोहर ने मजदूर-संघ छोड़ दिया। वह चुपचाप एक देहाती स्कूल में मास्टर बन गया।

—और केशो ने मिल की नौकरी छोड़कर वह मांगी राम को इन्दौर में ही छोड़कर शुजालपुर लौटकर चला गया।

———



खंड २

दस बरस बाद—

कोई सफा ना देखा दिल का
साँचा बना भिलमिल का।
(काष्ठ जिह्वा स्वामी)



अन्तराल

केशो फिर बीच में शुजालपुर से अपनी पत्नी और बच्चों को शहर में रहने के लिए ले आया था।

शहर और गाँव दोनों इन दस बरसों में कितने बदल गये थे। युद्ध काल में मुनाफ़ा कमाना एकमात्र उद्देश्य व्यापारी और माल-धारी का रह गया था। फलतः चार पैसे केशो के हाथ में खेलने लगे थे। उसकी दृष्टि भी बदल गयी थी। पहले वह इन्कलाबी-मजदूर-संघ में काम करता था। अब धीरे-धीरे वह मजदूर चरित्र-सुधार सभा का मेम्बर बना।

इसी बीच में एक बार मिल में हड़ताल हुई। एकदम बिजली की तरह हड़ताल! कोई पहले से नोटिस नहीं दी गई थी। और न बाकायदा कारणों का कच्चा चिट्ठा ही दिया गया था। दोपहर की छुट्टी की सीटी बजी और मजदूर काम पर से निकल आये। चींटियों की सी, झुंड की झुंड कतारें—फाटक से, हर दरवाजे से। दरवाजे के दरबान और खान मूँछों को बल देते देखते खड़े रहे। नपुंसक क्रोध से डंडा फर्श के पत्थर पर पीटते हुए।

मजदूरिनें निकलीं। एक दूसरे से फुसफुसा रहीं थीं—'सुन्द्री, क्यों है री हड़ताल?'

'बलराम मिल में किसी जाबर ने साँचे पर के आदमी को मारा है!'

गंगा ने बहुत समझदारी से भरी गर्दन हिलाते हुए जवाब दिया। पारवती ने नकारात्मक सिर हिलाया—'नहीं, नहीं! पन्ना मिलमें चक्के में एक फिटर आ गया था--उसे भट्ठी में झोंक दिया!'

यासीनाने कहा—'ये सब गप्पें हैं! महगाई नहीं मिली, इसी की हड़ताल है!'

गंगा ने फिर कहा—मारपीट का मामला है री!

'होगा' होगा! चलो अब कुछ दिन के लिए बच्चों को दूध नहीं मिलेगा!'

'ये यूनियन वाले क्या करते हैं, पता नहीं?'

'ये क्या भूखों को बराबर महीनों तक खिलायेंगे क्या?'

'सदावर्त नहीं खोला है!'

'मजदूर एकता जिंदाबाद!!' उधर नारा लगाता हुआ एक जत्था सामने से आ रहा था। चौराहे पर मैदान में कामरेड सामंत चीख रहे थे—भाइयो और बहनो! साथियो!! अभी इस जंग का मतलब तुम लोग पूरी तरह नहीं समझे! यह जंग एक मुलक और दूसरे मुलक के खिलाफ नहीं है। मजदूरों का स्वर्ग जो सोवियत रूस है—उसके खिलाफ यह सारी दुनिया की साजिश है...

श्रोताओं में से महँगू ने होरी से पूछा—'यह कामरेड सामन्त सोवियत रूस में देख के आया है? क्या सचमुच कल्पवृक्ष के से पेड़ होते हैं? जो मांगो उसके नीचे बैठकर, ऊपर से बरस पड़े!'

'अरे सब किताबी बातें हैं! क्रांति भी किताबी, किस्सा भी किताबी!'

'महँगू—तुझे ये जोशीले लेक्चर पिलाने वाले नौजवान भड़का रहे हैं! सच्ची बात यह है कि इनके सोवियत रूस में मजदूर को कम

से कम तनखा आठ सौ रूबल मिलती है। और एक अच्छे शर्ट के दाम सवा सौ रूबल होते हैं। यानी उनके रहन-सहन का स्तर हमारे मजदूर से ऊँचा नहीं हैं!'

'मिस्टर वर्मा! तुम चुप रहो। यह तुम्हें उलटी सीधी बातें कह रहे हैं—वहां मजदूर को हफ्ते में दो दिन छुट्टी, और सब ऐश की चीजें मिलती हैं जैसे हमारे यहाँ के सफेदपोश बाबुओं को!

केशो ने धीरे से कहा—'पर सुना है वहां बाबू होते ही नहीं। सब औरतें और आदमी काम करते हैं। सब देश के सिपाही हैं!'

मांगीराम ने इस बात पर आकर हड़ताल तोड़क का पूरा खौफ-नाक रूप दिखलाना शुरू किया—'मजदूर भाइयो! जो कोई हड़ताल पर जायगा उसका नाम रजिस्टर से काट दिया जायगा—उसे बोनस नहीं मिलेगा। समझे? इसलिए भाइयो! आप मेरी बात मानो!—अगर तुम काम नहीं करोगे तो कानपुर से बहुत से बदली वाले आ गये हैं— उन्हें काम का तजुरबा भी ज्यादह है!'

'मारो साले को!—पूँजीपतियों का एजंट है!……'

'ये रूस के एजंट हैं!'

'ये कांग्रेस सोशलिस्ट हिटलर के गुर्गे हैं!!'

मजदूर जमात को इस आपसी गालीगलौच में जराभी समझ में नहीं आ रहा था कि कौन किसका एजंट है? कौन किसका गुर्गा है? कौन किसका 'स्टूज' है? नतीजा यह था कि मजदूर जमात इन सब राज-नैतिक गिरोहों की शिकारहो रही थी। भोली-भाली जनता! सबसे अधिक दर्द उसी को झेलना था। वही सबसे अधिक कष्ट में थी। नेता लोग तो किसी न किसी कदर मजेमें रह लेते थे। जेल में या बाहर उनकी सुध

लेने वाले अखबार थे, राजनैतिक पार्टियाँ थी, देश में और देश के बाहर के न्यस्त स्वार्थ थे ! देश भक्ति का ऊपर से गोपीचन्दन था ही !

पर वह जो अपनी जिन्दगी बराबर गंदी चालों में, टीन की छतों के नीचे, बदबूदार नालियों के पास सीलन भरी, अंधेरी कोठरियों में पीढी-दर-पीढी बिताते जाते थे—या कहें कि जिंदगी को किसी तरह मरियल कुत्ते की तरह घिसट रहे थे—उनका सच्चा हिमायती कौन था ? सब ही आठ आठ आँसू बहाते थे। कितनी ऊँची मानवता की बातें करते थे ! पर मनोहर बराबर देख रहा था कि एक यूनियन जो सन् ३५ में थी उस की सन् ४५ तक आते आते चार यूनियन हो गयी थीं-लाल झंडा अलग था, सोशलिस्ट अलग थे। नैशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस अलग थी, बोलशेविक रिवोलयूशनरी पार्टी और थी और··· न जाने कितनी क्या यूनियनें थी ! मजदूरों की एकता के नामपर वह छोटी-छोटी संघ-जमातें, सभाएँ और एकताएँ—उस बड़ी एकता को खंडित कर रहे थे। तिल-तिल तोड़ रहे थे।

मनोहर के वे आदर्श स्वप्न ? वह मजदूरों को सुखी बनायेगा ? मित्र पाठशाला में लिखा पढ़ा कर, उनमें कला और साहित्य के प्रति प्रेम पैदा करायेगा—उन्हें जाति-भेद, प्रांत-भेद से ऊपर उठाकर एक राष्ट्रीयता सिख लायेगा—वे सब एक एक कर चूर-चूर होते जाते थे ! शीशे की तरह, ठीकरे की तरह, बालू की तरह कण-कण बिखरते जाते थे···

उसे लगता था कि इस बड़ी भारी आँच, इस भयानक भट्ठी के ऊपर वह निरी एक बूँद है··

इतने बड़े दर्द के महासागर को सोखने की प्रतिज्ञा करने वाले अगस्त्य की आचमनी का साहस तो देखो ! समुद्र को पी जाने वाली एक टिटहरी···

व्यर्थ है उसका यह भ्रम और विश्वास, यह अहंता और यह उत्साह! व्यर्थ है उसका अहद कि वह आजीवन सेवा और त्याग करेगा? वह ब्रह्मचारी रहेगा-और वह परिवार का बंधन नहीं पालेगा। और वह इस 'कॉज' के लिए बलि होगा; व्यर्थ है मनोहर...

पर फिर धीरे से कहीं से ध्वनि आती–व्यर्थ कुछ नहीं होता! एक एक बूँद जमा होकर समुद्र हो जाता है! जब तेरी कोई हांक न सुने तब अकेले चलो, अकेले...

पर यह टूटने लगता है। तब जैसे निष्ठा के, आधार के लिए मन तिलमिला उठता है, तब की एक मनस्थिति की झांकी–

मजदूर-संघ में आजीवन काम करने का वायदा तोड़ने और त्याग पत्र देने से पहले मनोहर ने लिजा को पत्र लिखा और अपने काम के विषय में मन के भाव यों लिख भेजे—

'प्रिय लिजा,

आज मैं तुम्हें अपने मन की बात लिखने जा रहा हूँ–जबकि मेरी निष्ठा टूटने को हो रही है। डिक्सन—तुम्हारे पिता के साथ एक बार मिशनरी–स्पिरिट पर बहस हुई थी। क्या प्रत्याशा थी जिसको सामने रखे बिना सुदूर समुद्र पार के ये धार्मिक–सैनिक जाकर एकएक काम में आजीवन जुट गये–मुड़कर उन्होंने पीछे नहीं देखा? कौनसी फल की कामना थी? नहीं, वहां कर्तव्य ही अपने आप में अपना इनाम था।

पर लिजा मुझे यह आदर्शवाद प्रेरणा नहीं दे पाता। मुझे लगता है कि मेरा यह सब काम विफल है। मुहल्लों की सफाई हमने स्वयं-सेवकों की टुकड़ियां ले जाकर की। पर गंदगी ज्यों-की–त्यों बाकी है।

–हमने रात की पाठशालाएं अनवरत चलाईं– निरक्षरता का भूत

लेने वाले अखबार थे, राजनैतिक पार्टियाँ थी, देश में और देश के बाहर के न्यस्त स्वार्थ थे ! देश भक्ति का ऊपर से गोपीचन्दन था ही !

पर वह जो अपनी जिन्दगी बराबर गंदी चालों में, टीन की छतों के नीचे. बदबूदार नालियों के पास सीलन भरी, अंधेरी कोठरियों में पीढी-दर-पीढी बिताते जाते थे—या कहें कि जिंदगी को किसी तरह मरियल कुत्ते की तरह घिसट रहे थे–उनका सच्चा हिमायती कौन था ? सब ही आठ आठ आँसू बहाते थे। कितनी ऊंची मानवता की बातें करते थे ! पर मनोहर बराबर देख रहा था कि एक यूनियन जो सन् ३५ में थी उस की सन् ४५ तक आते आते चार यूनियन हो गयी थीं-लाल झंडा अलग था, सोशलिस्ट अलग थे। नैशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस अलग थी, बोलशोविक रिवोलयूशनरी पार्टी और थीं और··· न जाने कितनी क्या यूनियनें थी ! मजदूरों की एकता के नामपर वह छोटी-छोटी संघ–जमातें, सभाएँ और एकताएँ–उस बड़ी एकता को खंडित कर रहे थे। तिल-तिल तोड़ रहे थे।

मनोहर के वे आदर्श स्वप्न ? वह मजदूरों को सुखी बनायेगा ? मित्र पाठशाला में लिखा पढ़ा कर, उनमें कला और साहित्य के प्रति प्रेम पैदा करायेगा—उन्हें जाति-भेद, प्रांत-भेद से ऊपर उठाकर एक राष्ट्रीयता सिख लायेगा–वे सब एक एक कर चूर-चूर होते जाते थे ! शीशे की तरह, ठीकरे की तरह, बालूकी तरह कण-कण बिखरते जाते थे··

उसे लगता था कि इस बड़ी भारी आँच, इस भयानक भट्ठी के ऊपर वह निरी एक बूँद है··

इतने बड़े दर्द के महासागर को सोखने की प्रतिज्ञा करने वाले अगस्त्य की आचमनी का साहस तो देखो ! समुद्र को पी जाने वाली एक टिटहरी···

Rishwar Dayal B.

व्यर्थ है उसका यह भ्रम और विश्वास, यह अहंता और यह उत्साह! व्यर्थ है उसका अहद कि वह आजीवन सेवा और त्याग करेगा? वह ब्रह्मचारी रहेगा-और वह परिवार का बंधन नहीं पालेगा। और वह इस 'कॉज' के लिए बलि होगा। व्यर्थ है मनोहर...

पर फिर धीरे से कहीं से ध्वनि आती—व्यर्थ कुछ नहीं होता! एक एक बूँद जमा होकर समुद्र हो जाता है! जब तेरी कोई हांक न सुने तब अकेले चलो, अकेले...

पर यह टूटने लगता है। तब जैसे निष्ठा के, आधार के लिए मन तिलमिला उठता है, तब की एक मनस्थिति की झांकी—

मजदूर-संघ में आजीवन काम करने का वायदा तोड़ने और त्याग पत्र देने से पहले मनोहर ने लिजा को पत्र लिखा और अपने काम के विषय में मन के भाव यों लिख भेजे—

'प्रिय लिजा,

आज मैं तुम्हें अपने मन की बात लिखने जा रहा हूँ—जबकि मेरी निष्ठा टूटने को हो रही है। डिक्सन—तुम्हारे पिता के साथ एक बार मिशनरी-स्पिरिट पर बहस हुई थी। क्या प्रत्याशा थी जिसको सामने रखे बिना सुदूर समुद्र पार के ये धार्मिक-सैनिक जाकर एकएक काम में आजीवन जुट गये—मुड़कर उन्होंने पीछे नहीं देखा? कौनसी फल की कामना थी? नहीं, वहां कर्तव्य ही अपने आप में अपना इनाम था।

पर लिजा मुझे यह आदर्शवाद प्रेरणा नहीं दे पाता। मुझे लगता है कि मेरा यह सब काम विफल है। मुहल्लों की सफाई हमने स्वयं-सेवकों की टुकड़ियां ले जाकर की। पर गंदगी ज्यों-की-त्यों बाकी है।

—हमने रात की पाठशालाएं अनवरत चलाईं— निरक्षरता का भूत

ज्यों का त्यों दरवाजे पर खड़ा है !

—हमने शराब की दूकानों पर पिकेटिंग की। व्यसना सक्तता कहां कम हो पाई है ?

—हमने बहुत जी तोड़कर कहा कि कर्ज न करो, ये सहकारी समितियां हैं इन पर विश्वास करो। तो भी ये मजदूर बराबर खान-पठान और साहूकारों से चोरी-चुपके सवाये ब्याज पर कर्ज लेते रहे ! क्यों ?

—हमने कहा कि चरित्र की ऊँचाई ? मजदूर अविश्वास से हसे—मालूम है ये सफेद कालर वाले उपदेश ! बहुत सुन चुके !!

क्या हमारे मजदूरों की आत्मा मर गई है ? या हमारे उपदेशों के पीछे वह सच्चे सिक्के की सच्ची झन्नाहट नहीं है ? कहीं-न-कहीं कुछ हुआ है कि आदमी के चिंतन और भावना में एक बड़ी दरार पड़ गई है। और यह खंडित मानव किसी खोखल में जैसे चक्कर काट रहा है। भँवर में पड़े हुए तिनकेसा, निराधार भविष्यहीन, आवर्त-प्रताडित, निस्संग, दयनीय··

तुम्हारे देशों में क्या दशा है पता नहीं। पर औद्योगिक सभ्यता का क्या यह अवश्यंभावी परिणाम है ? अधिक अवकाश, अधिक फुरसत, अधिक आलस्य,अधिक उत्तेजक पदार्थ; अधिक नींद लाने वाले पदार्थ—भाग दौड़ और अंत मे एक मूर्च्छना··

हमारी जिंदगियाँ साँचे में जैसे बंध सी गयी हैं। चीनियों में पुराने जमाने में बच्चों के पांव लकड़ी के चौखटे में बांध रखते थे, वैसी ही। विधि-निषेध के ये चोखटे, खाँचे, दरबे, दराज, छोटे-छोटे आले और बिल ! क्या हमारी इच्छाएं और हमारे इरादे कोई पालतू पक्षी हैं या चिड़ियाखाने में कैद, बोतलबंद, जंतु-कीट ?

इस यंत्र-युग ने मनुष्य को कीड़े-मकौड़े से भी बदतर बना दिया है !

पर फिर भी कहीं न कहीं, कोई-न - कोई चिन्मय अंश शायद बाकी है, जो इस सारी अधोमुख प्रतिगति के बाद भी हमें जीने के लिए उकसाता है। उसकी गति-अंधता में आशय भरता है—जो कहता है कि मरीचिका के परे नखलिस्तान है, और हर मंजिल मुकाम है। इस बर्फानी चोटी से परे बर्फानी चोटियां हैं। मनुष्य की संकल्प-शक्ति दुर्दम-नीय है। वह नहीं बनेगी भौतिक परिस्थितियों के शिकंजे में फंसकर निरी साँचे जैसी ! वह स्वतंत्र है। वह प्रज्ञामयी है ! वही है !

आज मेरी एक मजदूर बच्चे से बातचीत हो रही थी। मैंने पूछा-तुम क्या बनना चाहते हो ?

बोला—मैं राजा बनना चाहता हूँ !

मैंने पूछा—कहां का ?

उसने कहा—इस देश का।

मैंने सवाल किया—अगर दूसरे देश का और ताकतवर राजा तुम पर हमला कर दे तो ? उसने झट से उत्तर दिया—मैं उससे लडूंगा।

मैंने पूछा—कैसे ? सिपाही तो तुम्हारे पास नहीं हैं ?

उसने कहा—मैं अकेले लडूंगा ? अपनी पूरी ताकत से लडूंगा। ज्यादह से ज्यादह वह क्या करेगा ? मुझे मार डालेगा न ? मै मर जाऊंगा।

मैंने उसकी पीठ ठोंकते हुए—शाबाश, बहादुर बच्चे ! सच के लिए ऐसे ही मर जाना बड़ी बात है ! तुम बहादुर देश के बहादुर बच्चे हो !

और वहाँ से मैं लौट आया।

राह में वही सब गंदे नाले, वही एक नलपर पानी की बूंद बूंद के लिए लडने वाली मजदूरनियां, वे सब बुराइयां थीं जो हम देख चुके हैं—वर्षों के अंतराल ने उसमें सुधार नहीं पैदा किया था। पर मुझे लगा कि यह सचके लिए मर जाने की जो अदम्य निष्ठा है—जो हम में गांधी ने पैदा की—वही एकमात्र चीज है, जो हमें अखंड और निष्कंप इस घटाटोप अंधेरे में भी अपनी बाती जलाये रखने के लिए उकसाती है वैसे तो गजब का अंधेरा छाया हुआ है।पर इस निधूम शिखा जैसी स्वर्ण आत्म-ज्योति को कौनसा स्नेह टिकाये हुए है ?

जीवन को जीवन का ही आधार है ? मौत उसे चुननी नहीं है। हर क्षण यह संग्राम चल रहा है। हमारी संकल्प शक्ति को वह चुनौती है ! नहीं-नहीं हम औटोमैटान नही बनेंगें, हम 'रोबौ' नहीं हैं ! हम किसी तानाशाह या चक्रवर्तिन् की अंगुलियों पर नाचने वाली कठपुतलियां नहीं हैं ! हममें अभी भी स्वतन्त्र प्रज्ञा शेष है। हम स्वतन्त्र विचारों के वाहक, स्वतन्त्र वायु में सांस लेने वाले, स्वतन्त्र मानव हैं !!"

और इसी तरह की बहुत सी दार्शनिक मनोमन्थन की बातें उसमें ..। लिज़ा इसका क्या उत्तर देती ?

[१५]

द्वितीय महायुद्ध काल में लिज़ा की एक चिट्ठी किसी तरह भारत में मनोहर के पास आ गई। उसमें यह मजमून था :

'प्रिय मनोहर,

हाल में मैंने गांधी का 'हरिजन' में वह लेख पढ़ा जिसमें उन्होंने नाजी और सोवियत रूस दोनों सेनाओं को और दोनों ओर की हिंसा को एक ही शब्दों में याद किया था।

तुम्हें उतने दूर पर यह बात अजब लगे पर यहां जर्मन सैनिकों

के एक कांसेंट्रेशन कैंप में से मैं अभी छूटी हूँ और यह बात मुझे बहुत सही जान पड़ती है।

हिटलर ने क्या किया था ? देश की-कौमीयत की भावना को सांचेबंद बनाकर नारा दिया:

एक जनता, एक झंडा, एक नेता

(आईन वोल्क, आईन राइख, आईन फ्युहरेर)

और रूस में भी क्या हुआ ? क्रांति के बाद त्रात्स्की के साथ, और रादेक के साथ और बुखारिन के साथ। हिंसा दुमुंही और अंधी होती है। आदमी को बंदूक का कुंदा और रिवालवर का चाप बना डालती है। न जाने किसी दिन तुम्हारे इस गांधी को ऐसी ही अंधी, नृशंस, जघन्य सांचेबंद हिंसकता का लक्ष्य न बनना पड़े !

और दोनों ओर के कांसेंट्रैशन कैम्पों में क्या हुआ ? भूख से तिला-तिल इन्सान मारे गये। वहाँ मानवता की दुहाई देनेवाले आदर्शवादियों की एक न चली। क्रूरता साँचेबंद ढंग से आदमियों के प्राणों को कुचलती चली गई। और ये कंटीले तारों के घेरे आत्मा को चारों ओर से जकड़ते रहे, और पास आते रहे !

वहां आर्य हो या स्लाव, भूरी कुर्ती हो या लाल, पुरुष हो या स्त्री, चुनने का प्रश्न ही नहीं था। मनुष्य जब किसी ऐसे मतवाद के दुराग्रह के चक्कर में आ जाता है, समूह व्यक्ति को खा जाता है, समष्टि उसके निजी विवेक को लील जाती है—जैसे तूफान में समुद्र लहर को—और फिर बचा रहता है भैरव, दुर्द्धर्ष, भयानक विनाश—मात्र मुंड और कंकाल, अस्थिशेष, ढूह. केवल घूरे के ढेर और कुछ नहीं। सब कुछ जैसे स्वाहा हो जाता है। धीरे-धीरे मार-काट की बातें सुनते-देखते नज़र जैसे मर जाती है। उसे लगता है कि उसकी

नैतिकता की सूक्ष्म धार खुरदरी हो रही है। उसकी आत्मा घुटकर मर गई है। उसकी शक्ति चुक गई है। और आंखों में दृष्टि अघाकर पथरा गई है। इन्द्रिय संवेदना का ज्ञान सो गया है।

ऐसे वक्त मुझे तुम्हारा देश याद आता है। वह विंध्य पर्वत की मेखलाकार हरी-भरी चोटियां, वह नर्मदा की उत्ताल उच्छल जल राशि, वह पर्वतों से उछलकर पाताल का छोर गहने वाले प्रपात, वह भीलों की टोलियां जो घने जंगलों में घास काटती हुई घूमती थीं–कितना निस्तब्ध और गतिहीन और फिर भी जैसे किसी भव्य पुराचीन शिल्प की तरह चिर-जागरूक। कैसा विचित्र है तुम्हारा देश! उसके रेशे-रेशे में पुरातन के साथ नूतन की टक्कर है। वहां जितना गहरे में जाओ उतनी ही पर्त्तों पर पर्तें खुलती हैं! अद्भुत–

अन्वेषक मैं नहीं हूँ। अंतिम सत्य मेरे लिए एक कुहासा बना रहे। मेरे लेखे उससे मनुष्य और मनुष्य के व्यवहार में कोई अंतर नहीं आता। पर तुम्हारे देश में उसी सत्य की शोध के पीछे लोग कैसे पागल हैं! यहां मेरे योरुप में आकर लोगों को बताओ कि बारूद और जान लेने के अनंत तरीकों से बढ़कर भी कोई बड़ा सत्य है! जीना और जीने देना–ये कब सीखेंगे? कब? कब?

रूस दुनिया को कहते फिरता है–वह सबकी मुक्ति करेगा–गुलामों को सिवा बेड़ियों के और क्या खोना है? पर जब जर्मन युद्ध-कैदियों को साइबेरिया और दूसरे अज्ञात स्थानों पर ले जा रहे थे—तब, तब, तुम जानते हो उन बंदियों की नामसूचियां भी नहीं रखीं। गाजर मूली की तरह उन्हें गारत कर दिया। ट्रेन में मानो डिब्बे में जितनी संख्या में वे चाहिये थे, वह संख्या पूरी नहीं हुई तो उन्होंने जहां से गाड़ी जाती थी, वहाँ आसपास के किसानों को पकड़कर ठूंस दिया–

संख्या पूरी कर ली।

युद्ध में और प्रेम में सब कुछ जायज है? कैसे यह कहावत सच मानी जाय? क्या मनुष्य इतना गया-गुजरा हो गया कि उसे इस बात का खौफ नहीं बचा रहा कि आज जो दूसरे के साथ कर रहा है, कल वही उसके साथ भी बीत सकता है! उफ्! यंत्र-सभ्यता से कभी-कभी मेरा मन ऊब उठता है। और हिमालय की किसी कंदरा में जाकर शेष जीवन एकान्त में, चुपचाप बिताने का मन होता है!

यंत्र से अधिक उत्पादन बढ़ा! अधिक उत्पादन से खपत बढ़ाने के लिए और मंडियों की जरूरत बढ़ी। और मंडियों को प्राप्त करने का मतलब हुआ साम्राज्य-विस्तार। और साम्राज्य-विस्तार का मतलब है शस्त्रास्त्रों की होडाहोडी। और उस होडाहोडी का अन्तिम परिणाम है मनुष्य के हृदय का स्वयमेव यंत्रवत् हो जाना! इस्पात का उपयोग क्या, आदमी ने इसीलिए सीखा था-इस बात के लिए?

और फिर सबसे बड़ा व्यंग तो देखो कि हम ईसाई कहलाते हैं। हम सबसे बड़े परोपकारी और सबसे बड़े दाता कहलाते हैं। वह सलीबपर यह दुआ मांगते-मांगते मर गया—"पितः क्षमा करो, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" और हम उसके करोड़ों नालायक अनुयायी हैं—जर्मनी में और रूस में, स्पेन में और इटली में, चीन में और जापान में, अमरीका में और कहाँ नहीं—जिनका पेशा ही हर मिनट, हर लमहे पर उस परम पिता को तिल-तिलकर कीलें ठोंक-ठोंक कर मारना बन गया है।

इन्सान की ऐसी दशा जिस औद्योगिक सभ्यता का परिणाम है, वह सभ्यता नहीं है। वह एक बहुत बड़ी गलती है।

पिताजी यहाँ तुम्हें बहुत याद कर रहे थे। वे बार-बार तुम्हारी

उस पुरानी बहस की याद करते जब तुमने धर्मांतर को गलत कहा था। कट्टरपन, चाहे जिस रंग और कोटि का हो, मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है। मजहबी कट्टरपन, कौमी कट्टरपन; ये नाजी और गैर नाजीयत के नारे, यह दुनियाभर को आर्य बना देने की चिल्लपों, यह सारी दुनिया को 'सभ्य' और 'मुक्त' करने का दावा; यह लालच और गिद्धों की सी छीना-झपटी—यह सब आदमी की आत्मा में लगे हुए घुन हैं। ऐसा विकृत इन्सान कोई बड़ी कलाकृति कभी नहीं निर्मित कर सकता।

तुम क्या कर रहे हो? वहीं मजदूरों की रात की पाठशाला में वर्णमाला पढ़ा रहे हो? क्या तुम आजीवन यही करते रहोगे? वे स्लेटें बार-बार लिखी जायेंगी और मिटा दी जायेंगी। पर तुम्हारी आत्मा की स्लेट पर लिखा हुआ सवाल अनुत्तरित ही रहेगा।

तुम्हारे यहाँ युद्ध की आँच तो नहीं पहुंची होगी। सीता सावित्री का वह देश बड़ा पवित्र, पाकदामन, युद्ध की बुराइयों से बचा हुआ रहा होगा। वहां के हाल लिखो।

यहाँ का तो जितना लिखा जाय बुरा है। न लिखना ही भला है। हम जैसे एक भट्ठी में से निकलकर दूसरी धधकती हुई भट्ठी में गिरते जा रहे हैं।

पत्र मिले तो पहुँच देना। प्रेमसहित—

तुम्हारी—
लिज़ा

[१६]

मनोहर ने लिजा को एक चिट्ठी लिखी थी। कलकत्ते के अकाल के वक्त युद्ध कालीन भारत की दास्तां देते हुए, अपनी आंखों से जो हालत उसने देखी थी उसका वर्णन देते हुए। उसके कुछ अंश ये थे—

कहानी किसी जिंदा चीज नहीं, एक दीवार की है। आज उसका जो हाल है, दस बरस पहले नहीं था। आज तो उसकी ईंटोनें दाँत बिचका दिये हैं, काई-सिवार छा गयी है, पुराने बरगद ने अपनी शाखें भी उसमें जमा दी हैं। यह सब कुछ तब नहीं था। रईसजादे की हवेली के एक कमरे की वह दीवार थी। आज तो वह लावारिस बेवा की तरह, खुली पड़ी है। अंग उसके ढीले हो गये हैं। नंगें आसमान का साया ऊपर है, और कभी-कभी उस पर उगी हुई सूखी घास की फुनगियों को हवा इस तरह गुदगुदा जाती है, जैसे कोई जख्म सहला रहा हो। तब, ये सब कुछ नहीं थे। बाकायदा रंगीन चूने के पलस्तर की वह दीवार थी। कमरे के अन्दर झाड़-फानूस लटक रहे थे, जिनकी रोशनी काँच के लोलकों में से सतरंगा नाच करती हुई नीचे गद्दी पर बिछी शराब की प्यालियों में थिरकती। तब इस दीवार की जवानी थी। इसका जमाना था। इसमें खूटियाँ थीं। जिन पर जरीन-रेशमीन पोशाकें टगीं रहतीं. और पोशाकें इतनी ज्यादा थीं कि वे अलसाई हुई शलवारें और कुर्ते, वे शेरवानियाँ और जाकिटें कोई उन खूटियों से उतारता ही नहीं। कपड़े ज्यादा थे, पहनने वाले कम।

इसी दीवार में तब एक झरोखा भी था। जहाँ चिक डली रहती और कभी-कभी वह आंधी-सी उठाकर कोई चाँद का टुकड़ा उसमें से झांकता, जिसकी आँखों में प्रतीक्षा बर्फ-सी जम गयी थी। झरोखे में सुन्दर नक्काशी और पच्चीकारी हो रही थी, और आज उसके टूटे हुए कंगूरे देखकर पुरातत्व वेत्ता कहते हैं कि यह राजपूत — मिश्र—मुगल शैली की बनावट है। आज उस दीवार के उस फूटे हुए झरोखे से कोई बन्दर कभी आकर अपना पहलू खुजला लेता है, टुकुर-टुकुर दीवार के साये में फुटपाथ पर अंगोछा बिछाये उसमें से भीख के दाने चुगने वाले फकीर के कटोरे की ओर भूखी आँखें गड़ाये। अब भी उस चौपाये

जानवर की आँखों में है प्रतीक्षा ही, किसी और ही किस्म की। आदमी का यह समझदार पुरखा इस ताक में है कि कब वह भिखारी सो जाये और कब वह उस कटोरे पर झपटे।

छीना-झपटी है, साहब, सब दूर; यही छीना-झपटी है। छीना-झपटी का ही नाम जिंदगी है। इस दीवार ने भी दस बरस पहले रंगीनियों के आलम से कुछ लहमे छीन लिये थे। आज है, कि वे लहमे और किसी ने छीन लिये।

मैं तब इस शहर में परदेशी बना हुआ आया था। इसी दीवार के सामने ठिठका था। इसकी रंगीनियों को देखकर चौंधया गया था और सोचता था कि लोग क्या हैं जो खामख्वाह ताज और अजन्ता की खूबसूरती का इसीलिये बखान करते हैं कि वह समझ में नहीं आती; सच्ची सुन्दरता तो यहाँ है। दीवार और उसमें के ये झरोखे क्या सजे बजे हैं! खुशकिस्मती समझिये या समझिये एक इत्तिफाक मेरी और उस दीवार के अन्दर रहने वाले की पुरानी पहिचान निकली और मैं उस दीवार से घिरी जगह का, और उसकी रंगीनी के वक्त का एक हिस्सेदार बन गया। यह इस कहानी के लिये बेमुद्दा बात है कि मेरे उस हम उम्र दोस्त की दूर की बहन जो उस दीवार के साये में रहती थी उससे मेरी मुहब्बत हो गयी, या उसने उस मुहब्बत को ठुकरा दिया, या मैं इस बात से चिढ़ कर वहाँ से चला गया, या और कुछ ऐसी ही व्यक्तिगत बातें...

बात इतनी ही है कि दस बरस बाद यू-पी के इसी शहर में मैं अब परदेशी नहीं, मगर देसी बनकर आ बसा हूँ, और रोज उस दीवार के पास से मुझे गुजरना पड़ता है, फिर भी मुझे कभी उस पुरानी मीठी-सी याद ने कभी नहीं सताया, जितना कि आज जो 'सीन' मैं वहां देखकर अभी-अभी आया हूँ—उसने मेरे चित्त में उचाट-सी पैदा

कर दी है और बेमना सा अपना काम कर रहा हूँ, दफ्तर के आंकड़ों के आगे कभी सिफर ही सिफर बने हुए दीखते हैं और जी होता है दिल खोलकर रो लूं। मगर पास में देखता हूँ कि बैरा दीवार-सा तना खड़ा है, और डाक आयी है, और मुझे चिट्ठियां पढ़ना जरूरी है, और...

ऐसी कई बातें मैं जरूरी समझता हूँ। मगर उस चीज को मैं जरूरी नहीं समझता, जो मैंने उस दीवार के साये में देखी। दीवार के पास एक गली है और गंदी-सी नाली और फुटपाथ उन दोनों के बीच में है। एक बिजली का खम्भा बीच में किसी बेदिल योगी की भाँति खड़ा है, जिसके तारों पर शाम हुई कि लाखों कबूतर इकठे हो जाते हैं। रात को आसमान का जो स्याह टुकड़ा ऊपर दिखाई देता है, उसमें दीवार की स्याहपोशी और भी डरावनी लगती है, और दुनिया की इतनी कालिख पर मानों व्यंग से हंसती हुई यह बिजली की रोशनी एक नियत समय पर फक से जलती है और वैसे ही बुझ जाती है। काश जिंदगी का आनन्द ऐसा ही अपने हाथों मिलने वाला, और भी ज्यादह जरूरी, जब चाहिये तब 'स्विच' दबाते ही मिट जाने वाला होता।

हां, तो मैं कह रहा था कि मैंने उस दीवार के पार क्या देखा? वही जो देखना नहीं चाहिये था—वही जो कि हमारी इस सभ्य और सुसंस्कृत दुनिया पर ऐसा कलंक है, जो कि करोड़ों शायरों के करोड़ों कागजी आंसुओं से धुल नहीं सकता। कुछ लोगों का मजमा जमा था, और मैंने समझा कि कोई बाजीगर या दवाफरोश अपनी तकरीर बिना फीस के सुनने वालों पर लाद रहा होगा। मगर देखता क्या हूँ कि मजमे के भीतर से कोई आवाज नहीं आ रही है, और नफरत से मुंह पर बल डालकर मजमे के कुछ लोग वहाँ से हटते जा

रहे हैं। पांच-सात बजे होंगे कि मैं भी तमाशबीनों में से एक हो गया। एक आदमी, जो कि गुंडा-टाइप नजर आता था, फटी-सी झोली बिना आस्तीन की कमीज, भड़कीला जाकिट और घुटनों तक की धोती पहने कुछ फुसफुसा रहा था। पास ही उसके एक टूटी-सी टीन की सन्दूक पड़ी थी और एक दस-बारह बरस का खुशनक्श लड़का बेतरह धूलि में बाल सना हुआ, मटमैले कपड़े पहने, चेहरे पर लाचारी का, और मुफलिसी और मजबूरी से बिल्कुल बचपन से ही जंग लड़ने का नक्शा सा खिंचा हुआ, उसी सन्दूक पर बैठा है। करीब ही खम्भों से लिपटी, शर्म की पुतली-सी, एक मामूली-खूबसूरत, जवान लड़की इस तरह खड़ी है, जैसे काठ की बनी हो। उसके जिस्म में कोई हलचल तो दूर, सांस भरने तक की धड़कन दिखाई नहीं देती थी। वही जाकिट वाला आदमी, मजमे से अगर कोई आंख से उसे इशारा करता तो दीवार की एक ओर ले जाकर उससे चुपके से कुछ बातें कहता—कुछ उंगलियों के इशारे होते, उस आदमी की भवें गुस्से से तन जातीं, फिर वह मजमे वाला आदमी मजमे में शामिल हो जाता। फिर वह वहीं आकर किसी कसे-हुए 'एक्टर' की तरह दहाड़ मारकर रोता और चीखकर कहता —'कोई बचैयो कोई हमें एक जून रोटी दे दो। भुखमरी के शिकार हैं चार-दिन के उपवासी हैं। इन बच्चों पर तो रहम करो।'

बच्चों की आंखें चमक रही थीं, पर उनमें बेहद खौफ भी समाया हुआ था। पता नहीं इस शैतान ने उन्हें क्या-क्या धौंस दी थी। नतीजा यह था कि उनकी जबान को मानों लकवा मार गया था। किस्सा मुख्तसर में यह था कि वह गुण्डा इस लड़की और बच्चे को, जिन्हें वह भूखमरी से बचाकर किसी तरह फुसलाकर, यहां ले आया था, मंहगे से मंहगे दामों में बेचना चाहता था। उनकी मुफलिसी का फायदा उठाकर यह भलामानस, बीसवीं सदी में, और सभ्यता के इस

युग में जब कि दुनिया भर की आजादियों की दुहाइयां दी जाती हैं, ऐसा पाप करने जा रहा था. जिसकी कोई मिसाल नहीं, और जिस के ख्याल से ही रूह कांपती है।

मैं यह सब कुछ सरे आम दिन-दहाड़े होते हुए देखकर उस आदमी को पास के चौराहे की पुलिस के हवाले करने की सोच ही रहा था कि देखता क्या हूँ, गली के नुक्कड़ पर एक फटी-सी मोटर रुकी। एक तेज कदम, अधेड़, बावर्चीनुमा आदमी वहां तक आया। उस जाकिट वाले को एक ओर ले गया। पैंट की जेब में हाथ डाले, बैग निकाला कुछ कागजों की सरसराहट—जाकिट वाले के मुंह पर कुछ परेशानी कुछ गुस्सैल, अल्फाजों का विनिमय फिर कुछ सरसराहट, फिर जाकिट वाले के मुंह पर मुस्कराहट, वह मोटर वाला लड़की की कुहनी और बाजू पकड़कर घसीटता-सा गली के पार तेजी से रफूचक्कर भी हो गया। मैं देखूँ कि मोटर का नम्बर क्या था कि इतने में उड़ती हुई गर्द ने उस नम्बर को छिपा दिया। आज की सभ्यता फुर्ती से, यान्त्रिक गति से, इतने-इतने किलोमीटरफी घन्टा की रफ्तार से भाग निकली, पीछे हमारे हाथों रही सिर्फ गर्द और गुबार...

मैं कभी नहीं भूलूंगा उस सांवली भूख की मारी बजारगी लड़की की वे चमकीली आँखें, जिनमें एक युग की हसरत छिपी हुई थी यह लड़की उसी 'सोनार बंगाल' की है, जिसके आस-पास तोपों के बमबाज मंडरा रहे थे, और जहाँ अन्नचोरों ने देवी मनुष्यता के साथ बलात्कार किया था। जब उसने आखरी बार अपने भाई की ओर देखा वह बोल नहीं सकी, वह रोई भी नहीं। गुस्से की चिनगारियों ने उसकी आँखों के आँसू सुखा दिये थे। मुझे जान पड़ा जैसे वर्षों पहले जिसने मेरी मुहब्बत को ठुकरा दिया था उसी लड़की की आखें फिर मैं देख रहा हूँ। मैंने चाहा कि इस जाकिट वाले को मैं फाँसी चढ़ादूं। मगर

मेरे और उसके बीच में अब एक दीवार खड़ी थी। मेरे और उस लड़की के, उस लड़की को खरीदकर ले जाने वाले कसाई के, मेरे और मेरे अपने ही बीच में एक बड़ी, ऊबड़-खाबड़, फूहड़, घिनौनी, कूबड़ दीवार खड़ी थी, जिसका झरोखा टूटकर कंगूरे बचे हैं। जिसके रूप हले बाल जैसे तिनके हवा में हिल रहे हैं—जो कुछ कहना चाहती है, और वह कह नहीं पाती।

उस दीवार के अब कुछ ठीक से पुते हिस्से पर अन गिनती इश्तेहार चिपके हैं—औरतों को इण्डियन रेडक्रास में भर्ती होने की अपील से लगाकर, 'सरोवर की सुन्दरी' और 'हंटर वाली' के सिनेमा के भद्दे इश्तेहार तक दवाइयों के, गंदे जमों के, कांग्रेसों के, नाच के, किताबों के, कपड़े की दूकानों के, रेलवे के, सफर कम करने के अखबारों की सुर्खियों के जलूसों के इश्तिहारों पर इश्तिहार। दुनिया आज एक ऊबड़-खाबड़ दीवार की मानिंद है, जिस पर हम इन्सान इश्तिहार से चिपके अपना-अपना इजहार कर रहे हैं। मुहब्बत बिकती है, इल्म बिकता है, आज खुदा भी तराजू में तुलने चला आया है। सब चीजें बिकाऊ हैं। और जैसे दस बरस पहले और आज के बीच में, जैसे उस चांद और सितारों के टुकड़े-सी हुस्न की परी के और इस सांवली, भूखी गुलाम लड़की के बीच में, वैसे ही मेरी इज्जतदारी और तुम्हारी इज्जतदारी के बीचों एक दीवार बनी हुई है, जो गिरने को है, मगर पूरी तरह गिरी नहीं। आज इस दीवार में पुराने बरगदने शाखें जा डाली हैं।

समाज कहता है—पाप, पाप कहता है—समाज। कौन इस पहेली को पहिले सुलझाये। बात इतनी जरूर है कि जो घटना मैंने अपनी आँखों से देखी, वह प्रतिदिन कहीं-न-कहीं चोरी-छिपी घटती रहती होगी, मगर हमने अपनी पलकों की दीवार की ओट में ये सब घटनाएं

डाल दी हैं। हमने कानून बना दिये हैं, जो मुजरिम को सजा देते हैं, हमने धर्म शास्त्र लिख डाले हैं, जो पाप और पुण्य की बारीकियां तौलते हैं, मगर हमने यह नहीं देखा कि हमारे मनु और मूसा आज दीवार बन गये हैं—हमारे आपस के ही बीच में। धर्म शास्त्र गूंगे हैं, कानून बहरा है, और ये दीवार भी बेजुबां और बेदर्द खड़ी है।

मुमकिन है कि वह बेची हुई लड़की किसी सिनेमा की 'स्टार' बन गई हो, किसी कोठे पर चढ़कर झरोखे से झांकने वाली बन गई हो, या यतीमखाने में पहुंच गई हो। कहानी के इस सब खट्टे-मीठे अंजामों से हमें कोई सरोकार नहीं। कहानी असल में वहीं खत्म हो गई थी, जहां वह शुरू हुई थी कि एक दीवार है—युद्ध कालीन भारत एक दीवार है।

[१७]

दस बरस बड़ा अर्सा होता है। केशो ने जिस मिल में जिस तनखा पर काम शुरू किया था दस बरस में वह चींटी की तरह आगे रेंगा—था कोई तरक्की उसने नहीं की थी। इस बीच में मंहगाई बढ़ी थी, और मिल में हड़तालें भी ज्यादह होने लगी थीं जिनमें केशो ने आगे बढ़-बढ़ कर हिस्सा लिया था। केशो भी मजदूर नेता बन गये थे। पर मांगीराम और उसकी जरा भी न बनती थी बदमाश मांगी राम ने हड़ताल-तोड़क का काम कई बार किया था। मजदूर उसे अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। मांगीराम दादा बन गया था।

शरण ने अपनी रहस्यवादी-छायावादी कविता लिखना छोड़ दिया था। और कुमारी कामना से वे परिणय-बद्ध होने होने जा रहे थे। जितना ही अधिक सेक्स से भागने और आचरण-शुद्धि का उपदेश देते थे, उतना ही उनके मनके सुप्त कोने में कुचली हुई लिप्सायें अंधावेग बनकर छिपी पड़ी थीं।

एक दिन शरण और मनोहर के बीच में बहुत जोरों की बहस हो गयी। शरण के मन से हिटलर के खिलाफ मित्र राष्ट्रों का रूस और इंगलैंड का द्वितीय महायुद्ध में गठबन्धन नैतिक था; और मनोहर की दृष्टि में दोनों ही एक से हिंसा लिप्त युद्ध-पिपासु, अमानुष और चोर थे! बहस के दौरान में तेजी में आकर शरण ने कहा—'तुम कैसे कहते हो कि दोनों ही एक से हैं। देखते नहीं इटली में ईलडयूचे की और जर्मनी में हिटलर की तानाशाही है, फाशिज्म और नाजीजिम है (शरण ने मुंह इस तरह से बनाया जैसे किसी घृणित, जुगुप्साप्रद वस्तु का नाम ले रहा हो); और इसके उत्तर में यह लोकतंत्र है, साम्यवाद है—मानवमात्र की पूंजीवादी शिकंजे से मुक्ति का आश्वासन है···'

मनोहर ने कहा—'मित्र, ज्यादा राजनिति तो हमारी समझ में नहीं आती। पर जब-जब तुम युटोपिया और सब्ज बाग की बातें करने लगते हो तो मुझे लगता है कि तुम जैसी छायावादी कविता पहले लिखते थे, वही गद्य में करने जा रहे हो, तुम्हारा चिंतन कुहर से भरा हुआ, स्पष्ट नहीं है। चूंकि तुम गरीबों में रहे हो, गरीबी तुम्हारे आसपास है; तुम्हें साम्वाद का आकर्षण जान पड़ता है—पर है वहां भी घोर सांचे बन्दी। रंग कुत्तों के चाहे काले हों या ब्राउन हों या लाल हों—सब के दिमाग में 'स्टेट' नामक हौए के प्रति एकान्त अंधीनिष्ठा है, जो मूर्खतापूर्ण है। व्यक्ति को कोई कैसे सांचा बना सकता है?'

'सुनो! मनोहर तुम 'मैटर' और 'माइंड' पर वही पुराना तर्क दुहरा रहे हो।' शरण ने कहा—'युद्ध में जब दो पक्ष हो जाते हैं तब उसमें 'लेसर ईविल' (कम से कम बुरा) कौन है यह चुनना पड़ता है। यह जब तुम नहीं करते हो, तब तुम्हें कैसे समझाया जाय कि दोष का मूल कहां है? आखिर यह युद्ध जनता की शक्तियों का जन विरोधी शक्तियों से युद्ध है। हमारे पुरोगामी कवि मुरारी जी ने

तो हिटलर को रावण और विरोधियों को राम पक्षी कह कर एक लम्बी 'विजयदशमी' कविता लिख डाली है !'

'गंभीर चर्चा में मुरारी का नाम मत लो। वह चाहे जिसके प्रति सश्रद्ध हो सकता है। वह कुछ समय तक कृष्ण मूर्ति का भी भक्त था। और कुछ समय तक सांई बाबा उसके आराध्य थे। आज कल स्तालिन के जन-गण की स्तुति में लिखता है। वह 'गलीबल' व्यक्ति है। हिंदी के कवि यों माटी के माधो कब तक बने रहेंगे, पता नहीं ?'

'यानी तुम चाहते हो कि वे भी सांचे बंद बन जायें। रेजिमेंटेड—अगर उन्होंने कोई अच्छी बात रूस के बारे में लिखी तो इस गाली से उन्हें तुम विभूषित करोगे। न लिखी तो कहोगे युग-धर्म से वे अनभिज्ञ हैं। तो आखिर तुम कवि से अपेक्षा क्या करते हो ?'

मनोहर बोला—'ईमानदारी ! अपने प्रति—यानी स्वभावतः अपने परिवेशके प्रति भी !'

शरण कुछ न समझ कर बोला—'ऐसे कैसे हो सकता है ? साधारणीकरण तो यह नहीं हुआ। हमारी परंपरा में तो काव्य बहुजनहिताय होना चाहिए।'

'हम कहां से कहां बहकते जा रहे हैं। नाजी नेता हिटलर या सोवियत नेता स्तालिन जो कुछ अपने-अपने देशों में करते हैं वह जनहिताय का दावा करके ही न ? जन का अर्थ अपनी-अपनी मति के हिसाब से ले लिया जाता है ! सच है न ? जन का अर्थ अपने जन !'

शरण—मैं कब कहता हूँ कि जन या जनता का अर्थ अस्पष्ट हो ! देश काल, इतिहास की सीमा तो होगी ही !'

मनोहर—ये देश-काल के सांचे मनुष्य की चेतना ने ही बनाये हैं न ?

और वही चेतना आकर इन में बंध गई। इन की शिकार हो गयी। सो कैसे ?

शरण ने बहस करना उचित नहीं समझा। और प्रस्ताव रखाः मनोहर, बहुत दिनों से हम लोगों ने साहित्य-चर्चा नहीं की है। मजदूर-संघ में थे तब तो बहुत हम आपस में एक दूसरे की लिखी चीजें सुनाते थे। पर अब न जाने क्या हो गया है ?

तो मनोहर ने कहा—अच्छा आज थोड़ी सी फुरसत भी है। सुनाओ तुम अपनी कविता, मैं अप अगले उपन्यास का अधूरा आरंभिक अंश सुनाऊंगा।

शरण ने कहा मैं अपनी कविता 'बसना' सुनाता हूं। और वह गुनगुना कर कहने लगा—

"बहुत हुआ मन उड़ना फिरना,
जीवन है तो बसना भी है।
अपने ही हाथों से दिल पर यह जजीरें कसना भी है।
आंसू दुनियाँ में न बहाना, पी लेना, चुप, हंसना भी है।
जीवन को चिंता ग्रसने जब आई तभी श्याम-बसना है।
चपल, बड़ी बलवाली. पेशा तो जिसका केवल डसना है!
इस व्यालिन की इस मायावी मधुलपेट में अब फसना है।
जीवन में हां ही हां कब तक, बेबस 'ना' बसना भी है।"

मनोहर ने उलहाना दिया—यह वही शरण लिख रहा है क्या जो कभी तुषार या आकाश गंगा और क्या-क्या नहीं लिखता था! काफी यथार्थ की ओर तुम मुड़े हो शरण? पर फिर भी मुझे लगता है कि वही पहला रोमैंटिक रूप तुम्हारा बेहतर था।

'हो सकता है ? पर ऐसा तुम क्यों कहते हो ?'

'इसलिए कि मैंने इधर एक छोटा सा गद्यकाव्य विक्टह्यूगो का पढ़ा था—उसकी मुझे याद हो आयी।

'वह क्या है ?'

'देखो, मैं किताब ही लाता हूँ। और मनोहर सचमुच एक किताब उठाकर ले आया जिस में से उस ने सुनायाः

समुद्र और झरना

' चट्टान में से झरने का बूंद-बूंद पानी भयानक समुद्र में झर रहा था। नाविकों के प्राणहरण करने वाला महासागर उसे बोलाः

"रोने वाले प्राणी, तुम्हारा मेरे पास क्या काम है ?"

"मैं झांझावात और भयानकता हूँ। यहाँ आकाश समाप्त होता है, वहां मेरा आरम्भ होता है। अरे क्षुद्र जीव ! अमर्याद और असीम मुझ समुद्र को तेरी क्या जरूरत है ?"

झरने ने उस कडुवी खारी गर्ता को उत्तर दिया—

'ओ बेमाप-अथाह सागर ! कोई शोर गुल न मचाते हुये और अपनी अहंताका प्रदर्शन न करते हुये तेरे पास जिस वस्तु का सबसे अधिक अभाव है, वह देने मैं आया हूँ'

'वह क्या है ?'

"वह है पानी की एक मीठी बूंद !"

दोनों थोड़ी देर चुप रहे !

शरण ने कहा– क्या पानी की यह मोटी बूंद कविता का रोमांटिक पन है ?'

मनोहर ने कहा—हो सकता है। पर यंत्रयुग में आकर हमारी भावनाओं के आकार बदल गये हैं, उनके आशय पर इस आकार का असर पड़ा है!

शरण फिर नाराज हो गया। बोला—यह कैसे हो सकता है? भावना तो प्राणों का मूल उत्स है। उसमें कैसे परिवर्तन आ सकता है? कहां से, कैसे, किधर से संभव है? वह तो मौलिक मानवीय भित्ती है'

मनोहर ने थोड़ी देर आँखें मूंदी और गम्भीरता से कहा— युद्ध की खबरें पढ़ते हो? रोज की, भयानक, बड़े प्रमाण पर हिंसा और विनाश की खबरें–क्या होगा? मनुष्य एक दिन मनुष्य को इस धरती पर से मिटा कर रहेगा। सिर्फ सांचे रह जायेंगे, सिर्फ साँचे। यंत्रों की उस निर्जीव दुनियाँ पर मैंने एक कल्पना पर आधारित भविष्यवादी उपन्यास लिखने का सोचा है, जिस में एक भी मानवी पात्र न होगा। पूरी मनुष्य विरहित कहानी।

शरण ऐसी कृति का नाम पूछा।

मनोहर ने कहा—'चीजें'

और उसने एक खातावही जैसा लंबा रजिस्टर निकाला और वह पढ़ता चला गया—

"चीजें"

"—आखिर जो नहीं होना चाहिये था, वह होकर रहा। वह हुआ और जैसे हो चुका।

अणु-बम से भी भयानक हाइड्रोजन-बम और उससे भी भयानक कोबाल्ट और उससे भी भयानक जेड़-बम का दोनों ओर से प्रयोग हुआ और मानव जाति नष्ट हो गयी।

धरती और आसमान वही रहे। और चीजें ज्यों की त्यों रहीं—यहाँ तक की पशु-पक्षी और प्राणीजात भी वही रहे। विज्ञान के करिश्मों से बनाई गई कई अजीबोगरीब चीजें भी वही रहीं। सिर्फ आदमी नहीं रहा। उसकी यादें बाकी रहीं। तब की यह कहानी है।

इसमें कई चीजें आपको अपरिचित लगेंगी। इसलिए उनका वर्णन विस्तार से किया है। घटना करीब दो हजार बरस आगे की है इसलिए कई अनुमान और कल्पनाएँ जो आपको अद्भुत और विलक्षण जान पड़ेंगी, उनपर मैं यह तो नहीं कहता कि आप सहसा विश्वास करलें, पर विश्वास न भी करें ऐसा कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता।

सो चीजों की कहानी सुनिये :

यह कभी बड़ा शहर रहा होगा! ऐसा उत्खनन में पाया गया था। पर अब उत्खनन करने वाले आदमी ही नहीं रहे। पुरातत्त्ववेत्ता न होने से यह अंदाजा लगाना मुश्किल है कि यह जो अणु-चालित प्रोपेलर बराबर खोदता जा रहा है और धरती की आंतों से कोई-न-कोई नई-नई खोपड़ियाँ निकालता जा रहा है, वह आखिर किस वंश की रही होंगी। वे चौड़े माथे वाली जाति की हैं या चिपटी नाक वाली जाति की, घुँघराले बाल वालों की या लाल चमड़ी वालों की। अब तो ये अस्थिशेष हैं - हो सकता है बरसों तक एक जाति वाले लोगों ने दूसरों को चूहों को जिस तरह पींजरे में बंद रखते हैं, वैसे एक ही डब्बे में हाथ पैर बाँधकर बंद रखा हो और ओरांग उटांग की या चिम्पा-जी की शकल में ये आदमी फिर लौट गाये हों—उनके ही ये जबड़े और दाँत निपोरे हुए मुंड हैं। पर अणु-चालित उत्खनन-यंत्र बराबर कुछ न कुछ बाहर धरती से फेंकता ही जा रहा है :

देखिये, यह है एक लोहे का जिरहबख्तर, इसके नीचे आग नहीं

जला सकती उसका कवच है। और उसके भीतर से एक पोथी निकली है। यह विश्व-भाषा में लिखी पोथी है। इसकी लिपि के जानकार अब दुनियां में नहीं रहे। चौवन राष्ट्रों की भाषाओं से शब्द लेकर यह नयी भाषा बनी थी। पर उसमें कुछ चित्र बने हैं, जिनसे जान पड़ता है कि मनुष्य की जिज्ञासा विज्ञान की इतनी प्रगति करने पर भी अतृप्त रही। अकुलाहट अशांत रही इसमें एक मुर्गी के आगे प्रश्नचिन्ह है और उसी के आसपास एक अंडे का आकार बनाकर फिर एक बड़ा प्रश्न चिन्ह है। पर अंडे के ऊपर फिर कांटा है—मगर इससे कुछ भी अनुमान निकाला जा सकता हैं। प्रश्न यह नहीं हैं कि ये चीजें आदमी ने यों क्यों बनायीं। पर उससे बढ़कर यह समस्या है कि ऐसी सब चीजों ने आदमी को क्या-का-क्या बना दिया। यहां तक कि जो पहले 'था', वह आज 'नहीं' है।

अणु-चालित उत्खनन मशीन बराबर चल रही है—भयानक विमानमारक तोपों के अवशेष, राडर और हेलीकाप्टर जेट और जेपलीन और किस किस विमानचारी और उसके शिकारी यंत्र का एक-एक अवशेष नहीं निकल रहा है। कि सहसा उसमें से कई एक आभूषण निकले। जाहिरा है कि ये आभूषण किसी स्त्री के हैं।

जिसके इतने सुन्दर आभूषण हैं, वह स्त्री कितनी सुंदरी होगी इसकी कल्पना कीजियें। सौंदर्य को भी देखनेवाले चाहियें। सजाने वाली चीजें चाहिये। उनके बिना सौंदर्य अपने आप में कुछ नहीं भी हो सकता है। ये आभूषण भी विचित्र ढंग के हैं, क्योंकि इनमें विद्युत्-तीय और चुंबकीय गुण रहते हैं।......॥

शरण ने सुनते-सुनते मनोहर को टोककर कहा—'बस करो! मैं और आगे यह भयानक पुराण सुनना नहीं चाहता! तुम क्रूर हो मनोहर! तुम

निरे बुद्धिवादी हो—तुम्हें भावना का जरा भी स्पर्श नहीं छू गया। नहीं तो तुम ऐसा लिखते ?

मनोहर ने खाता बन्द कर लिया और कहा—देखो शरण, तुम्हारी क्रूरता-प्रेमलता, बुद्धिवाद-भावुकता इत्यादि की परिभाषाएँ थोड़ी बदलनी होंगी। तुम बे-समझे बूझे शब्दों का व्यवहार करते हो ऐसा लगता है।

शरण—मैं यह नहीं मानता !

मनोहर से रहा नहीं गया—उसने छूटते ही कहा—तुम शब्दों को भी साँचों में बाँधकर चलते हो। उनके अर्थ जैविक या मानवी चेतना के स्तर बदलने से बदलते हैं या नहीं ? जब चीटियाँ थीं तब साम्यवाद था, जब मधुमक्खी आयी तो उसी का रूप और भी समष्टिवादी बन गया। पर मकड़ी अपने से बाहर निकली, उसने अपने आसपास ही जाल बुन लिया। पर मनुष्य की चेतना न चींटी की है न मकड़ी की—शरण, तुम मनुष्य को फिर चींटी और दीमक बनाना चाहते हो ? मनुष्य अपनी निर्मिति का दास नहीं है ! वह सृजन के लिए स्वतंत्र हैं ! जो स्वतंत्रता है, वह उसका अपना सृजन है !

शरण—तो फिर तुम्हारे लेखे अच्छा-बुरा कुछ नहीं ?

मनोहर—मन का खेल है !

जब मन का खेल मनोहर ने कहा तो उसके मन के सामने राजो की तस्वीर आ खड़ी हुई। असल माँ ! राजो गौरी जब अपने परसोतम को छोड़कर एक जुलाहे के साथ भाग गयी थी। उसके बाद एक जुलाहे के साथ रही, उसकी पहली संतान है। मगर जुलाहों की जिन्दगी भी कोई जिंदगी है ?

शुरू-शुरू में तो राजा महाराजाओं की ओर से जरी के काम की

मांग होती थी तो थोड़ा बहुत 'हुनर' दिखाने को मौका भी था, पर अब क्या ? राजों के पास ही शौक कहाँ रहा। भगदड मच गयी—विभाजन के बाद। राजे ही नहीं रहे। जरदोजी के काम की पूछ थी कहाँ ?

और इधर राजो के भी लच्छन अच्छे नहीं थे। उसकी नयी मां गौरी का पता नहीं कहां थी ? जिंदगी की बाढ़ में वह असली मां कहीं से आई, कहीं चली गयी। अपने पीछे यह नन्हीं सी, किलकती, जान छोड गयी। जुलाहे ने उसे बड़ा किया। सो क्या इस दिन के लिये ? उफ़, क्या होगा ?

आखिर राजो ने निश्चय किया कि पास के ईसाई मिशन में चली जायगी। और वहाँ नर्स का धन्दा सीखेगी। वहां की बड़ी बहिन लिजा नाम उसने सुना था। बड़ी ही प्रसिद्ध डाक्टरनी थी, बहुत ही सहायता करने वाली। भली, भोली सचमुच में बड़ी बहन।

पर वह इस निश्चय तक क्यों पहुँची—यह जानने के लिये उसकी असहायता की कहानी सुननी चाहिये। वह बहुत बड़ी कहानी नहीं है। राजो के जीवन में 'वह' आया और जैसे राजो ने अपना आधार कहीं खो दिया।

वह कौन था ?

उसके लिए कोई 'ना' नहीं कुछ 'न' नहीं, कहीं 'ना' नहीं है। व्यसन उसके जन्म के साथी हैं, वासना गये जनम की साथिन। गत और आगत का उसे कोई सोच नहीं, पाप-पुण्य की न कोई चिन्ता। और तो भी वह आदमी ही है, जिन्दा है और ऐसे कितने ही आदमी होते हैं।

उसका जीवन एक ऐसी गूदड़ी है जिसमें जहां गलीचों और मखमली कालीनों के टुकड़े सिये हैं, वहां टाट और मटमैले छींटों के भी टुकड़े हैं ही। उसके अनुभव, अतिशय विचित्र, कितने ढंग के, कितने

रंग के हैं वह खुद भी नहीं जानता। कभी वह मजूमदार साहब की मोटर का ड्राइवर रह चुका है, कभी सूट भी पहने थे, छापेखाने के काम की राई-राई भी चाहो तो उससे पूछ लो। पर नीच वह है, और हद दर्जे का नीच है, यह बाजार भर में उसे जानने वाला कोई भी कह देगा। और इसे कबूल करने में किसी को कोई भी आना कानी न होगी।

जैसे कोई कुआं हो वैसा ही कम हो वर्षों से कभी बाहर न आया हो, न कभी काम में लाया गया, अब उसमें अगणित जन्तुओं के महा-युद्ध चल रहे हों ऐसा उसका जीवन है। और किसी अति पुरातन टूटे-फूटे धूल भरे, जिसकी पच्चीकारी अब मिट भी चुकी, उसमें कभी महान चित्रकारी थी इसके निशान भी अब मिट चुके हों ऐसा एक निर्जन, कभी किसी भी नवागत द्वारा अदर्शित, चिर-उपेक्षित, खंडहर सा उसका जी है, चारों ओर कांटों से घिरा-घिराया।

पर ऐसे ही खंडहर में कभी किसी प्रिय साथिन के पैरों में लगा कांटा जिसे निकालने का सौभाग्य मिला हो और उस सौभाग्य से गर्वित व्यक्ति के लिये जैसे एक अकेली स्मृति उसी घृणापूर्ण, चिर-उपेक्षित स्थान में हवाई बनकर चक्कर काटती-सी, मीठी हो उठती हो; या जैसे उन्हीं चारों ओर घिरे कांटों में एक बड़ा पवित्र सा, पीला, सरल, बन-फूल लगा हो, उसमें सुवास न हो तो भी वह लुभावना हो, ऐसे ही उसकी जिन्दगी में है—राजो।

यह बताना न होगा कि वह अति नीच पेशा करता है। वह लड़कियों को बेचा करता है। दो बुढ़िया उसकी मददगार हैं। तहखाने के अन्दर-अन्दर पेचीली, बदबू भरी और दम घुटने वाली किसी कोठरी के समान ही उसके जीवन में तह के भीतर तह और रहस्य के नीचे

रहस्य है। ज़ख्म का खून निकलने भी न दिया, ढांक दिया गया और ऊपर दूसरे ज़ख्म का आयोजन किया जाने लगा ऐसा उसका जी, जल्लाद की आंखों सा, खांडे की धार सा उसका जी, राजो को देखकर उससे मिलते हुए क्यों नरम हो उठता है ? यह अपवित्र के लिये पवित्र की कैसी प्यास ? यह निरीश्वरवादियों के प्रदेश में श्रद्धा की कैसी भूख ? वह राक्षस के अन्तर में कैसा देवदूत··· ?

और यह शैतान और खुदा के किस्से मत छेड़ो। वे तो सदियों की मिट्टी के नीचे दफने पड़े हैं। हम तो उन दफनी यादों पर के मकबरे देखेंगे, बड़े-बड़े और लाल-लाल और सफेद पत्थरों की इमारतें तो हम चाहेंगे, उसके जी से क्या ? ऐसी यह रानी सी राजो थी कौन ?

राजो जुलाहे की बेटी है। उसके घर से इसका घर सटा हुआ है। जुलाहा कहते ही तुम सोच बैठोगे कि मैं ढाका के अंगूठे-काट कम्पनी वालों की कहानी सुनाकर तुम्हें रुलाऊंगा। नहीं जी, हम तो इतना ही जानते हैं कि दोनों के घर एक दूसरे से यों लगे हैं कि उसके घर का मुंह पूरब की ओर तो राजो के घर का दक्षिण की ओर, और दोनों के घरों के बीच में एक चबूतरा है। उस पर एक नीम का पेड़ है। एक कुआं भी है जो नलों का जमाना शुरू हो जाने से बन्द पड़ा हुआ है और है एक छोटा सा भैरों का सिन्दूर-सना मन्दिर। किसी भगत ने उसे दो हाथ ऊंचा चौंतरा बना दिया है। और अब अपने जीवन की उन अज्ञान तहों तक आ पहुँचे जहां श्रद्धा और भावना इतनी अनन्य हो जाती है कि हम अपने सभ्यताओं के चश्मों में से नजर गड़ा कर उसे 'अंधी' कह डालते हैं। और जुलाहे की बेटी राजो मानतायें मनाती है। रोज मिट्टी का चिराग वहां पर जलाकर रख जाती है। और रोज-रोज वह निहारा करता है उसका भला-भला भरा-भरा मुंह।

और एक रोज वह आता है जब उसका तमाखु खा-खाकर मुहल्ले भर में खांसते फिरने वाला बाप उसे छोड़कर दूसरे गांव चला जाता है। व्यवसाय की मन्दी तो एक कारण है ही, पर दूसरा कारण राजो और 'उस' के सम्बन्धों पर सारे गाँव की शिकायतें और हल्ला उठाना है। जब राजो नींद-लदी आंखों सुबह उठती है तो घर खाली पाती है। बाप चले गये है मां को मरे तो बरसों गुजरे। एक बछिया आंगन में बंधी है सो वैसी ही बंधी है नीम की छांह में से धूप अभी आई नहीं। और घण्टों बीत जाते हैं और वह असहाया राजो बुहारी भी नहीं कर पाती।

धूप आ गई, चढ़ गई। वह तो भीत पर चढ़कर छत तक पहुँच गई। दुपहरी होने आई पर उसका बाप न लौटा।

और अब वह निरिच्छण, अकेली, कमरे के अन्दर का करघा दिन भर सोता ही रहा। शायद वह साम्यवाद के सपने देखता हो। सूत की लच्छियों पर रंग भी नहीं चढ़ा। रात को भिगोया हुआ रंग दिन भर काफी तपकर ठंडा भी होता आया। जबकि अधकाला बिलाव मीठा-सीठा समझकर वही रंग का कटोरा ढुलका गया तब कहीं अन्दर के दरवाज़े की देहली पर बैठी, शून्य आंखों, भैरों के चौतरे की ओर आशा लगाये बैठी राजो उठी। पड़ोस के 'उस' के घर को ताला लगा था। उसे पता था, पड़ोस वाले के यहाँ कैसी-कैसी औरतें आती हैं और वह अन्दर से बाहर तक कांप गई।

चिराग जलाने का वक्त भी आ गया। आज राजो ने न कुछ खाया, और न पीया आज चिराग में तेल रोज से कम गिरा। माचिस की तीन सींकें जल गईं तब कहीं वह जला। और तभी उसने देखा कि माचिस की डिबिया में तो दो ही सीकें बची हैं। कल के अन्न की चिन्ता —मटके में जो कुछ चून है वह कै दिन चलेगा—और बाद की फिक्र!

यह सब फिक्र सामने काली रात बन कर उसके मन के आंगन में उतर आई पर उसका भैरों के सिन्दूर में अचल भरोसा है, वह वहीं देखते खड़ी रही जब तक कि पूरा अंधेरा हो गया—

उस रात उसे नींद कहाँ से आती ? पर सूरज-चांद एक मिनट भी न ऊंघते हुए बराबर चल रहे थे। उन्होंने दूसरी सुबह देखा कि उसी निरक्षरा, असहाया-मलीना दरिद्रा राजो के आँगन में 'वह' आ खड़ा है। उसके भी एक हृदय है, उसमें भी जरा सा गीला कोना है, उसने भी दर्द झेला है, पहिचाना है। दर्द और हमदर्द होना कहीं-कभी सीखा है। पर उसकी करुणा कहीं तपे हुये तवे पर की पानी की बूंदे सी तो नहीं है जो अस्थिर और शीघ्र ही दाग भी न छोड़ कर मिट जाने वाली है। इसलिये तो कहीं वह इतनी चंचल, उछलती-नाचती, तिलमिलाती-सी नहीं है ?—

आँसुओं की लकीरें खींचने-पोंछने के बाद, उसका पहिला सवाल है—'अब तुम क्या करोगी राजो' और यही तो सवाल है जिसका जवाब राजो नहीं दे सकती। जिसका जवाब खो जाने के लिये वह दिन भर की भूखी-प्यासी, आसमान में आँखें टांगे रही। जिसके जवाब के लिए वह चाहती है 'वह' उससे कुछ न पूंछे। 'उस' की मदद से वह डरती है, डरती ही नहीं सिहर-सिहर उठती है।

पर उसकी आत्मा में भैरों के सिंदूर का अक्षय भरोसा है। उसका जवाब दृढ़ है—'जो कुछ भगवान चाहे, दद्दा तो छोड़ गए, अब तुम क्यों आये हो मेरे प्राण छुड़ाने·······'

वह नीचता के हेतु से भरी सब को धरकर लौट नहीं जाता। वह वहीं खड़ा है। आज उसे अपना कालापन यों कुरेदा हुआ देखकर अच्छा लग रहा है। उसे जी का काजल आंखों से बहाना भा रहा है।

उसे सुख है कि उसका गत आज अनायास उसके सामने मूर्त होकर तनकर, साड़ी का पल्ला सिर पर से संभाले, तपाक से जवाब देने बैठा है। सका दूसरा भी एक मन है जो जानता है कि यह क्या, इससे भी कितनी ही कठोर नारियाँ वह अपनी फौलादी मर्जी के आगे झुका चुका है। उसे याद है कि ऐसी कितनी ही निरीह, निराश्रित आत्माओं को उसने काला बुर्का पहनाया है और वह याद ही तो है जो आज अधिक हो उठी है। वह याद सुख नहीं उजपाती। वह आज ठुकराई जाने में सुखी, हो रही है। 'वह' उस क्षण सुख दिखा कर सुखी होगा।

दोनों कुछ देर चुप रहे। फिर वही बोल'—'तो तुम अब मेरे घर नहीं चलोगी। जब दद्दा थे तब तुम्हें आ-जाकर मेरे यहाँ आना क्यों कर भाता था और मेरे घर में टंगी मैना को तुम्हीं ने तो 'पियारे' पुकारना पढ़ाया। और आज, तुम्हें मेरे घर आ रहने में कौन सा रंज है?······और देख राजो, तू अकेली है, मेरा भी इस दुनिया में कौन सहारा है? यह बीमारी अकेली साथिन है सो मरने तक साथ रहेगी।···और तुम्हें यह घर खाने को नहीं दौड़ता?'

'पर ऐसी कितनी ही तुम्हारे यहाँ रहीं और गईं। आज वो किसी छज्जे पर बैठी होंगी। और मेरे करघे के छोटे से घर से उठा कर तू मुझे भी चाहता है क्या उसी राह ले जाना···'

'और मकान का किराया कहां से लाओगी? करघा छोड़ने को मैं थोड़े ही कहता हूँ। तुम उसे मत छोड़ना। मेरे घर रहना, रोटी पकाना, बेचना, कमाना। मैं तुम्हें फंसाना नहीं चाहता राजो। उम्र के बारह साल ऐसे बुरे-बुरे बिताने पर आज यह जी चाहता है कि वह दर्द में जम जाने दूं। मोम सा जम जाने दूं। उसे तुम्हारी तेज आंखों की रोशनी से जला दूं और ऐसे ही पल-पल पिघलते-पिघलते मर

जाऊं—और मुझे यही धन्यता रहेगी कि मैं तुम्हारी मूरत के सामने जलता-जलता गया! आज अपनी गई जिन्दगी का अंधेरा किसी को चुपके से कह डालने को जी करता है। राजो, राजो, क्या तुम वह सुनने वाली हो? कहो, उसमे नांहीं कौन सी? मैं भैरों की शपथ खाकर कहता हूँ कि बुराई मेरे मन में नहीं है—'

और राजो ने सोचा, सोचा, सोचा। आखिर वह चुपचाप उठी। घर का सामान समेटा-सुमेटा। और उस गरीब बूढ़े काश्तकार का घर सूना पड़ा रहा। आखिरी बची थी बछिया। वह भी उसके घर में आ बंधी। रसोई बनी, खाना हुआ। वह काम पर चला गया। और दुपहरी में नीम में हवा वैसी ही सरसराती रही। शाम को चिराग वैसा ही जलाया गया। वह लौटकर घर पर आया तब वह चिराग जला कर लौटी थी। उसने याद दिलाई—'देखो जी, तुमने भैरों की शपथ खाई है—बुराई तुम्हारे मन में चोर के पैरों से दुबकती हुई न चली आय।'

रात भर वह उसे सुनाया किया अपने बीते जिन्दगी के पाप। उसमें के सबसे भड़कीले स्थान, जो-जो उसे याद थे। वह सब सुनती गई। आज तक सात लड़कियों का जीवन वह बरबाद कर चुका था। और उसकी कहानी खत्म न हुई। रात के बारह बजे के घंटे सुनाई दिये तब भी न खत्म हुई। गश्त वाला आकर 'जागते रहो' कहते हुए रास्ते से निकल गया तब भी न थमी।

और आखिर में राजो पूछ बैठी—'और क्या मैं आठवीं हूँ'।

वह हंस दिया। उसकी हंसी में अब कितनी सरलता, शांति आ गई थी।

......अब राजो अकेले-अकेले चिराग नहीं जलाती। अब उसकी

गोद में का नन्हें हाथों का शैतान कभी चिराग की बाती ही खींचे-खींचे लेता है तो कभी तेल ही ढुलका देता है! अभी उस छोटे शैतान को बोली नहीं फूटी। आंगन में की बछिया थी, वह अब मुन्ना की गा-गा बन गई है।

घंटे लाड़ में से भीजे-भीजे निकल जाते हैं। राजो का 'वह' बीमार पति अब और बीमार हो गया है। दिन भर खाँसता है। बाहर कहीं नहीं आता जाता। उसके यहा उन बुढ़ियाओं का आना कभी का बन्द हो चुका है। शाम को घर में बिस्तर पर लेटा-लेटा ही, रुग्ण, निष्प्राण सी आंखों से वह देख लेता है भैरों के आगे का चिराग। और वह बल उठते ही चमकने वाला भैरों का सिन्दूर। उसकी दोनों घनी भौंहों के बीच में राजो सिन्दूर का एक टीका आंक देती है।

राजो कभी किसी शाम को अंधेरे में, जब पति की तबियत ज्यादा खराब होती तो, भैरों के आगे अगरबत्ती, बतासे चढ़ाती। मन से हाथ जोड़ कर आंखें मूंदे, मन ही मन विनती करने बैठती—'आज मेरी जान के बदले भी 'उस' को कोई जिला दे, और वह बुड्ढा बाप वह अभी तक न लौट आया।

और आज सुबह से तो उसकी दाहिनी आँख एक-सी फड़क रही है। मुन्ना के माथे पर उसने डिठौना भी लगा दिया। और दुपहर तक पति का बुखार बढ़ता ही गया। शाम हो आई। तब भैरों के आगे चिराग जला कर वह रख आई। और मुन्ना को डाँटा भी कि पड़ोस वालों के संग वहाँ मत खेल—रात है, अंधेरा है; कुआं है, घर चला आ। और अन्दर आकर वह पति की न रुकती हुई खांसी ज्यों संभाल रही थी कि घबराया-घबराया सा पड़ोस का लड़का आकर कहने लगा —'मुन्नू' कु"आ·····'

राजो बाहर से सिंदूर लाई थी वह उसने उसके मत्थे टेक दिया और वह ? वह भी—जिसके लिये कोई 'ना' न थी, आज उसके लिये कोई 'हां' न बचा। वह जीवन की गूदड़ी को यकसा बनाये उस करघे वाली के जी की गांठ की कहानी सोचते-सोचते, जब कि सात भोली आत्माओं की जिबह का कसाईखाना आँखों के सामने से गुजर गया। कि मुन्ना कुएं में गिरा है।

वही पेड़ है, जहाँ मानताएँ ली थीं; वही कूंआ है, वही राजो है—पर मुन्ना कहां है ? मां ने बताया था कि भैरों का घर कुंए में है। मुन्ना वहीं देखने, वहाँ से सिन्दूर लाने गया है। आखिरी हिचकी आकर 'उस' ने भी जान छोड़ दी। घर के भीतर करघा न हिला न डुला।

दुआरे पर आकर बाबा शाम की भीख माँग रहा था। विथा की मारी राजो, अवसन्न राजो, उठकर बाहर आई देखा पकी दाढ़ी का बाबा जी है। उसे जैसे भान हुआ कि उसी का बाप है। उसने दहाड़ मारकर पूछा—'मेरा मुन्ना दिला दोगे—'

बाबा दुआ देकर लौट गया। वह मुन्ना को नहीं लौटा सकता। वह कुंए के भीतर सिंदूर का मकान देख ही लेगा। बिना सिंदूर की राजो, दरवाजे में खड़ी—रही उसे अब पाप का सोच था न पुण्य का पता। उसकी पथराई आँखें मानों कह रही थीं कि उसे भैरों के सिंदूर का एक आसरा, आखरी, माना हुआ अवलम्ब था, वह आश्वासन भी आज उठ गया।

और भी कुछ बरस बाद—

साबरमती के पार्क में कोने वाली बेंच पर बैठा मनोहर पास बैठे हुए एक तुंदियल गुजराती से दैनिक पत्र मांग कर पढ़ रहा था। उन

गुजरातियों के निकट दैनिक का मूल्य केवल उसमें छपे बाजार-भाव तक था। वे पढ़कर बाजार की तेजी-मंदी की बातचीत करते हुए वे न जाने कब उठ गये। दैनिक वे भूल ही गये। शायद वे रोज ही ऐसा करते होंगे। अतः वहां के रद्दी कागज बटोर कर बेचने वाले आवारे छोकड़े और एक खोंचे वाला वहाँ मंडरा रहे थे। खोंचे वाला पकौड़ा 'मिक्सचर' चिल्ला-चिल्लाकर बेच रहा था। और मनोहर को यह भान तो था कि उसे भूख जोर से लग आई है, फिर भी जेब बिल्कुल ही खाली थी और सिवा उस खोंचे के खाद्यपदार्थों को भूखी आंखों से देखने के उसके पास कोई चारा नहीं था। वह भूखी दृष्टि जब थक जाती तो जल्दी जल्दी दैनिक पढ़ने में लग जाती जिसमें छपी खबरों का मतलब उस की चेतना के ऊपरी सतह को छू कर चला जाता।

मनोहर बड़ी आशा से अहमदाबाद आया था कि यहां कम से कम कोई काम कुछ न कुछ मिल ही जायगा। यह बड़ा व्यापारी शहर, गुजरात की नाक, अस्सी मिलें यहां चलती हैं और कहीं-न-कहीं तो उस बी० ए० पास, बोलने में कुछ हकलाने वाले नौजवान को, जिसकी हड्डियां चाहें तो आप गिन लें इतना वह कमजोर है—कोई काम जरूर मिल जायगा। वैसे चाहे वह कुछ भी पास हो, उसे सिवा थोड़ा-बहुत गीत गुनगुना लेने के और आता ही क्या था? आज की दुनियां में आगे निकलने के लिए जो गुण चाहिये – मक्कारी, झांसेबाजी, खुशामद और अपना ही उल्लू सीधा करने की खुदगर्जि—इनमें से एक भी गुण तो उसमें नहीं था। गांव में पला; ये सब सद्‌गुण सीखने का उसे मौका ही कहां मिल पाया? घर से सौतेली मां से लड़- झगड़कर वह भाग निकला था। वहां खबर भी नहीं दी थी। अब दादा (बड़े भाई को इसी नाम से वह पुकारता था) अच्छे परेशान होंगे। खूब खोज करेंगे। करने दो। अब भाभी की बात मान कर नहीं पीटेंगे मुझे। बिना टिकट चला

आया हूँ। रास्ते में टिकिट-चेक डाँटा तो क्या कहता हंस पडा। उस पर वह और भी गुस्सा हुआ। लाल-लाल गोल आंखें और मोटी-सी भद्दी नाक वाला पारसी था। और वे दो पंजाबी लुंगी पहिने। गंदे, फटे कपड़ों में उनकी औरतें और बच्चे—रो रहे थे बेचारे। कह रहे थे—भाग कर आये हैं; उधर दंगा है। खाने को कुछ नहीं है, टिकट कहां से दें? पारसी टिकिट-चेकर चिल्लाया—पैसे नहीं हैं तो हम क्या करें? लाओ, भीख माँगो, कहीं से भी कुछ भी कर के से लाओ...

यह कह देना बहुत आसान है। पैसे मिलते कहाँ हैं? चार दिन हो गये, वह इसी अहमदाबाद में चप्पलें चटकारता दर-दर घूम रहा है। ये हिंदू धर्म के ध्वज-रक्षक कहते हैं—हिंदू-हिंदू एक है, बड़ा 'संगठन' है उनमें! कहां का एका आया—जब उस पंजाबी की आंखों से करुणा उमड़ पड़ रही थी, तब पास ही अपना बिस्तर लंबा पसारे, उस पर टांग फैलाये बैठा हुये महीन, नफीस बगुला-पंखी धोती (जो चोर बाजार में भी मुश्किल से मिलती है) पहिने, त्रिपुंड़ लगाये, चोटीधारी, एक कान में मोती की बाली ऊपर की ओर पहिने, गले में मलमल के कुर्ते के अंदर सोने की चेन जिसके झलक रही थी, उस सेठ ने कुछ दे तो नहीं दिया? क्या सेठ हिंदू नहीं है या वह पंजाबी हिंदू नहीं था? क्या बात थी? मनोहर सोच रहा है कि धर्म मंदिर में पूजा करते वक्त सेठानी को सूझने वाली कंजूसी है; वह आदमियत को खा गया है। कह देना बहुत आसान है; जीवन में मुश्किलें कितनी मुंह बाये सामने खड़ी हैं। तभी पार्क में लगे सार्वजनिक रेडियो के मेगाफोन से उसे एक गाने की भनक सुनाई पड़ी। वह उधर चलने लगा। भीड़ खासी थी। कुछ लान पर लेटे थे। फूलों को वेणी में डाले कुछ गुजरातिनें अपने बच्चों को 'प्रेम' गाडियों में ले जा रही थीं। खोंचे वाले यहां भी थे। कुछ नौजवान चड्डी-कुर्ता पहने राजनीति पर गर्मागर्म बहस कर रहे थे।

हरेक नौजवान का एक-एक लीडर 'हीरो' था—कोई सुभाषवादी उनमें से था, कोई नेहरूवादी, कोई जयप्रकाशवादी और कोई सावरकरवादी और उन तरुण कालेजियनों में वाद-विवाद चल रहा था। परंतु देश के प्रश्न डिबेटिंग सोसाइटी' से हल नहीं हुआ करते—यद्यपि विधान परिषद वाले निर्द्वंद्व और निश्चिंत चित्त से 'धार्मिक शिक्षा अनिवार्य हो या न हो" ; "मिशनरियों को प्रचार स्वातंत्र्य दिया जाये परन्तु बल-पूर्वक धर्मांतर अवैध करार दिया जाय" आदि एकेडेमिक मसलों पर ठंडे दिल से डिबेट करते ही जा रहे थे। बहुत से वकील और स्कूली बच्चों जैसे आदर्शवादी मिलकर एक 'यूटोपिया' का राज करने गये ; मगर ज्यों ही तोपें गड़गड़ाने लगीं, बच्चों ने रोना शुरू कर दिया, वकीलों को सिर दर्द हो गया ; बोले—मेरी फीस दे दो ; मैं घर जाता हूँ, मैं घर जाता हूँ।

मनोहर इसी कारण राजनैतिक चर्चा से बहुत जल्द ऊब जाता है। चर्चा अरण्यरोदन है, सिकता से तेल निकालना है, अजा-गल-स्तन है। राजनीति कृतित्व चाहती है ; शब्द-संगर निष्फल होते हैं। मनोहर इस से गजल सुनने लगा—

राह आसान हो गई होगी
जान पहिचान हो गई होगी।

मनोहर को कुछ इच्छा-पूर्ति का सा ।नंद मिल रहा था। गजल आगे चल रही थी—

हाँss, मौत से तेरे दर्दमंदों की
मुश्किल आसान हो गई होगी।

और आगे चल कर तो और भी रोमैंटिक रंग भर दिया गया था—

लौट कर फिर निगाह नहीं आई,
तुझ पे कुर्बान हो गई होगी।
तेरी जुल्फों को छेड़ती थी सबा
खुद परीशान हो गई होगी ।

मनोहर के अन्तर्मन में जुल्फों से जुल्फे बंगाल का विज्ञापन याद आया और उससे सिनेमा के देखे हुए बड़े-बड़े पोस्टर और उनमें आई भूरे, सुनहले बाल फैलाने वाली वे माया विनियाँ. वे एक्ट्रेसें, वे चुड़ैलें ! चुड़ैल इसलिए कि मनोहर ने कई महीनों से सिनेमा नहीं देखा था। और पैसे उसके पास नहीं थे कि वह इस प्रकार फिजूल-खर्ची करे ।

इतने में उसे एक सिख-नुमा सज्जन दिखाई दिये जो कानाफूंसी से बात करते थे। आवाज उनकी ऐसी थी जैसे किसी गहरी कन्दरा में से आ रही हो। सिर पर उन्होंने सफेद साफा बांधा था, कमर में बाक़ायदा 'किरपान' टंगी थी। जब तक उनका नाम आप नहीं जानते उन्हें श्री शरणार्थी कह लीजिये। उनकी और मनोहर की बात-चीत काफी दिलचस्प हुई :—

शरणार्थी—क्यों वे छोरे, तू हिंदू है ?

मनोहर ने गर्दन हिलाई—हां ।

शरणार्थी—मैंने पूछ लिया जी। इत्थें तो सब का पहनावा यक सा ही होता है। तू क्या करता है ?

म०—कुछ भी नहीं ।

श०—तो जरूर आवारा है तुझ से हमारा काम नहीं होगा ।

म०—काम क्या है जो। मैं काम चाहता हूँ, ऐसा काम जो मुझे दो जून रोटी दे सके ।

श०—नौकरी करेगा ?

म०—हाँ

श०—क्या जानता है ? रोटी बनावणी तुस्सी आती है ?

म०—(कुछ दबी जवान से) हाँ, वह भी थोड़ी-बहुत जानता हूँ। मगर मैं एम० ए० पास हूँ और कुछ गाना जानता हूँ।

पंजाबी ने अपनी धवल बत्तीसी का प्रदर्शन करते हुए कहा—

आहा, तो तू बच्चों को पढ़ा सकता है ?

म०—हां, जी !

शरणार्थी ने दूसरे शरणार्थी से बातचीत की और बाद में कहा—पै तुझे तो पंजाबी कहां आती होगी ? उर्दू जानता है ?

म०—उर्दू तो मुसलमानों की भाषा है।

श०—नहीं जी, हमारे पंजाब में तो सब हिंदू अच्छी खासी बढ़िया उर्दू जानते हैं।

म०—होगा' साब, यहां तो उर्दू को मवालियों की भाषा ही मानते हैं

श०—वाह जी, कल्ल रात हम गुजराती थियेटर देखने गया था, सो तो ड्रामे का राजा अच्छे शेर चिल्ला रहा था। खैर, तो क्या लेगा ?

म०—जो आप दे दें। मुझे इस वक्त कोई नौकरी नहीं है, और जो काम और तनखा आप दे दें, वही सही ! आप कहां से आये हैं ?

वह कुछ न पूछो !—कहकर उस शरणार्थी गुरु गोविन्दसिंह के चेले नम्बर दो ने खूब नमक-मिर्च लगाकर पश्चिमी पंजाब के मुसलमानों के अत्याचारों की बड़ी भड़कीली कहानी शुरू की कि अच्छा खासा मजमा जमा हो गया। उनमें से शरणार्थी नम्बर तीन गुस्से के मारे

कृपाण निकालकर हवा में साभिनय उसे चलाते हुए काल्पनिक मक्का-विजय का आनन्द चटकारे दे-देकर ग्रहण करने लगा।

भीड़ में मनोहर आगे बढ़ा। पार्क के दरवाजे के पास ही एक होटल था, वहां ये सब शरणार्थी नम्बर एक-दो-तीन-चार...आदि और मनोहर बैठ गये। वहीं एक और शरणार्थी बैठा था जो होटल वाले से उलझ पड़ा था। ताव से होटल वाले पर बिगड़कर कह रहा था यह भी भला लस्सियों में लस्सी है? यह भी कोई गिलास है कि मजाक है—उंगल बराबर कांच के गिलास में छाछ का पानी रंग-भूरा डालकर दे दिया और बोलता है—लस्सी है! हमारे पंजाब में तो हाथ-हाथ बराबर (कुहनी से छूकर बतलाते हुए) इत्ते लम्बे गिलास होते हैं—ताजो आधा सेर दही से कम की लस्सी नहीं बनती। और कहता है, चारज होगा! तो हम क्या पैसे नहीं देंगे क्या? जो कहेगा सो दाम देंगे...

मनोहर मन में सोच रहा था कि मंहगाई तो है ही, तिसपर शरणार्थियों की भीड़ की और यह बला। ये सब अपने साथ में काफी-सा धन-माल, पैसे, सोना-चाँदी लाये होंगे—और यहां इन्हें ही हमारे चोर बाजार वाले व्यापारी पहिले चीज देंगे। मुनाफादेवेभ्यो नमः

तो दंगा कराता कौन है? मनोहर सोचने लगा—हिंदू कहते हैं, मुसलमान करते हैं; मुसलमान कहते हैं, हिंदू करता है; कांग्रेसी कहते हैं—अंग्रेज करता है! मैं समझता हूँ सब झूठ कहते हैं। दंगा कराने वाला पैसा है!

शीघ्र-श्रीमंत व्यापारी वर्ग बड़ी ताक लगाये था कि तीसरा युद्ध बाहर विलायत में कब शुरु हो, और इसीलिए गत युद्ध में मुनाफा कमाने की जिन्हें चाट पड़ गई थी, वे तीसरे महासमर की खबरें उड़ा-

उड़ा कर हारे। जब बाहर युद्ध होता नहीं दीखा, तो देश में ही शुरू करा दिया. जितनी अस्थिर परिस्थितियाँ होंगी—चीजें मनमाने दामों पर बिकेंगी! मुनाफाखोर मजे में रहेगा। साधारण जनता शांतो चाहती है, उसे मुनाफाखोर और उनके एजेंट भड़काते हैं—ओह, पाकिस्तान खतरे में! हिंदुत्व नष्ट हो गया!! ये नारे कहां से उठते हैं? मनोहर के पेट की भूख उसे सब राजनैतिक समस्याओं का सीधा 'हल' दे रही थी। लड़कों की जेब से कोई कागज का पुर्जा गिरा था, वह उसने उठाकर देखा.- कुछ फार्मूले जैसे थे। जेब में चुपचाप रख लिया।

इतने में एक होहल्ला मचा। 'भागो-भागो' 'मारो-काटो' की आवजें शुरू हो गई। लोग बेतहाशा भाग रहे थे। पहिले तो भयानक विस्फोटक आवाज़ हुई- बाद में जैसे बहुत से पटाखे एक साथ छूटे हों। पार्क के एक कौने में आग-सो भड़क रही थी। दूकानें लोगों ने झट-पट बन्द कर दीं।

मनोहर कहाँ जाये? वह भागा नहीं। एक कोने में दुबका खड़ा रहा। चेहरा उसका अपराधियों का सा था ही। फायर-ब्रिगेड आई. आग बुझाई जाने लगी।

मनोहर काठ की मूर्ति की तरह वहीं खड़ा था। इतने में पुलिस को आते देख उसने छिपने का प्रयत्न किया: असफल।

पुलिस की लारी आई। उन्होंने आस-पास इक्के-दुक्के जो भी मानवजात दिखे, उन्हें पकड़ना शुरू कर दिया। मनोहर की भी बारी आई। वह रो दिया। पुलिस उसके आँसुओं से पिघले इतनो छायावादिनी नहीं थी। चार चपतें रसोद कर पुलिस का सब-इंसपेक्टर बोला—हमसे क्यों छिपाते हो? सच-सच बतला दो। यह बम किसने रखा था?

मुझे क्या मालूम ?—मनोहर रुकते-रुकते, हिचकियों सहित बोला।

ऐसे काम नहीं चलेगा। चलो हवालात। जब बेंत पड़ेंगे, अकल ठिकाने आ जायगी। सब कबूल कर लोगे ?—पुलिस की धौंस ने मनोहर को निर्भीक बना दिया। वैसे भी लात-चपतें-बेंत-डंडे पड़ते ही हैं; ऐसे भी पड़ेंगे। फिर रोकर क्या होता है ?

बाकायदा बेड़ियां पड़ गईं। तहकीकात हुई। फौजदारी चालान किया गया। मनोहर को सांप्रदायिक दंगा कराने और सामाजिक सुव्यवस्था और शांती भंग करने के अपराध में दंड हुआ। तीन महीने सश्रम कारावास। क्योंकि अपराध पूरी तरह सिद्ध नहीं हो पाया था, इसलिये सजा कम हुई थी। वह देखते-देखते हिन्दू वीर और न जाने क्या-क्या हो गया था। महन्त जी के एक स्थानीय पत्र ने एक रोमांचक वर्णन मनोहर के सम्बन्ध में छापा था—"वह एक हिंदू अबला की सतीत्वरक्षा के लिए अहमदाबाद में आये। उन्होंने किसी बात की परवाह नहीं की। परन्तु जब देखा कि गुंडे बराबर उस अबला के पतिव्रत्य को नष्ट करने जा रहे हैं, तब सावित्री की तपस्या सीता का त्याग सती बेहुला की दृढ़ता, द्रोपदी की एक निष्ठता आद-आदि ने मनोहर के प्रसुप्त आर्यतेज को प्रज्वलित कर दिया। वह एकदम इस योजना पर उतर आये कि उन्हें एकदम रसायनिक विस्फोटक बनाने चाहिये। वह विज्ञान के विद्यार्थी थे। इन्होंने इस कला को उपलब्ध किया। पार्क के कोने में जो बम-विस्फोट की घटना हुई, उसके पीछे हुतात्मा वीर मनोहर का ही गहरा हाथ था।..." अखबारी खबरों में एक तिहाई सच और दो तिहाई झूठ ही मिला होता है! भानमती ने क्या किया होगा पता नहीं, पर संवाददाता लोग अवश्य ही कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़कर अपनी खबरों का कुनबा जोड़ते हैं।

मनोहर 'सी' क्लास का कैदी बन गया। दंगों से ले हीं किसीके नुकसान होता हो, लेकिन मनोहर जो बेकार था उसे काम मिल गया।

मनोहर चक्की पीस रहा है और चार दीवालों में बंधा आसमान का टुकड़ा देख रहा है।

वह अब राजनीति, हिंदू-मुस्लिम, आर्थिक कारण, बेकारी वगैरह बातें नहीं सोचता! कंधों में और पुट्ठों में जो दर्द हो रहा है; और उसे अब जो दिन का खाना घंटी बजने पर मिलने वाला है, उसकी ओर उसका ध्यान जा रहा है।

दूर से स्पष्ट-सी संगीत की ध्वनि आ रही है। मनोहर घर से इसी लिये तो भागा था कि बड़े शहर में नौकरी करेगा, गाना सीखेगा, सहगल के कान काटेगा...मगर विधना के मन और ही कुछ था।

कोई गजल गाई जा रही है। धीमा-धीमा स्वर और भी स्पष्ट होता गया। शायद पुराना रिकार्ड चढ़ा था। परन्तु वह गजल अच्छी थी; उसके शब्द मनोहर को बेध रहे थे—

सितारों से आगे जहाँ और भी है!
अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी हैं!
सनाअत न कर आलमे रंग-बू पर
चमन और भी है, आशियां और भी हैं।
अगर खो गया इक नशेमन तो क्या गम,
मुकामात आहो-फुगाँ और भी हैं!

मनोहर संगीत का आनन्द, चक्की पीसते हुए भी ले रहा था। मन कहीं उड़ जाय, उसे जैसे पर लगे हों—ऐसा उसे लगा। उसे इससे क्या कि इस गजल का लेखक इकबाल था, कि उसने 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' लिखा था या बाद में वह 'दैन-

इस्लाम' वाद का समर्थक बन गया ? उसके मन में तो बारबार गजल का वह एक मिसरा घुला जा रहा था—'तेरे सामने आसमाँ और भी है!'

कैसा यह अजब सांचा है! साँच-झूठ का यहाँ पता नहीं है।

मनोहर जेल में सोचता था—डिक्सन और लिज़ा पता नहीं कहाँ होंगे। विलायत में जाकर वे जैसे खो गये। कई दिनों तक पत्र व्यवहार तो चलता रहा पर बाद में वह भी बन्द हो गया। फादर डिक्सन बार-बार लिखते कि ईसाई धर्म में विश्व के यांत्रिक रूप का विरोध है चूंकि परमपिता और पुत्रों के बीच में वात्सल्य का संबंध बराबर बना रहता है। पर बात सिर्फ ईसाई धर्म-पुस्तक में ही बन्द थी। आचार तो कुछ और कहता था। जापान में ही केवल बु की पीतल की प्रतिमायें गलाकर युद्ध सामग्री, तोपें और गोलियां नहीं बनायी गई थीं—और भी जगह काफी कुछ हुआ था। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' का यह बड़ा ही नुकीला और प्राणघातक उदाहरण था...

लिज़ा के पत्र बाद में आना बन्द हो गये। मनोहर बेकार हो गया था। और विलायत से पत्र-व्यवहार करने का डाकखर्च उसके पास कहां था।

शरण ? ओह ! शरण जी तो अब किसी प्रदेश के सरकारी उपमंत्री हैं। युद्धकाल में उनके विचार सरकार विरोधी, देश विरोधी, कांग्रेस विरोधी थे तो क्या हुआ ? अब वे राजनीतिज सेवक हैं। बड़ी कोठी है, कालीन हैं, कमरे हैं, कामदार फर्नीचर है, कोच है काकातुआ पींजरे में है, कमल वाले सरोवर के बगीचे हैं, कोच हैं, कुर्सियां हैं, कैंटरर्स हैं, कुमारियां हैं, कैवेंडर्स है, कोकाकोला है, क्या-क्या नहीं

है ! पद्माकरके 'गुलगुले गलीचे हैं, गिलमे हैं, गजक है' वाले कवित्त की याद नहीं आती क्या ?

ये जनता के सेवक हैं ! कहते हैं इतनी सारी मुश्किलें, जेलें झेल कर बड़े कष्ट से उन्हें स्वतंत्रता का सुख भी आप नहीं भोगने देंगे ? वाह जी वाह ! यह तो उनकी हक की छुट्टी है !

शरण जी की कामना पूरी हो गई थी। उन्हें मिस कामना मिल गयी थी। सेठ मटरूमल बांकेराम उनके साथ मिल कर साझे में फिल्म कंपनी खोलने का सोच रहे थे। कहानी लिखने के लिये नागर चन्द्र जी तैयार थे और गीतकार प्रसिद्ध भूतपूर्व-क्रांतिकारी कवि मुरारी जी थे ही। मुरारी जी ने इस बीच में शराब बहुत पीनी शुरू की थी और इस वजह से उनकी तोंद बढ़ गई थी—उन्हें जलोदर भी शायद बताया जाता था—परन्तु उससे क्या ? 'कुकड़ूकूँ' फिल्म में उनके गाने बहुत बड़े बाक्स आफिस हिट रहे थे। उनमे संस्कृति-रक्षा-मंडल वालों को 'जुबना के उभार' पर बहुत आक्षेप करने को अवसर मिला था। पर उससे क्या ? उनके परम मित्र आलोचक हरदास जी ने सिद्ध कर दिया था कि यह युग ही अश्लील है, उसमें मुरारी जी की कृति श्लील कैसे रह सकती है ! सो शरण कहीं शूटिंग देख रहे होंगे, या 'शूटिंग' करने गये होंगे !......'हे...प्रभो आनंद दाता, 'शरण' हम को दीजिये' यह गीत देहाती स्कूल में उनके स्वागत में गाया गया था...

. . . . . .

केशो को टी० बी० होकर वह मर गया।

किसी ने उसकी सुध न ली।

मरने से कुछ महीने पहिले उसके घर वालों को इत्ति

थी—कायदे से। पर वे क्या कर सकते थे। जब वक्त आया तो दोनों आपस में लड़ने वाली यूनियनों ने उसकी दवा दारू के लिए पैसे देने से इनकार कर दिया। एक बोले—वह तो कम्युनिस्ट था; उसको ऐसे ही मर जाना चाहिये।

कम्युनिस्ट यूनियन बोली—हमारे पास क्यों आते हैं? गांधी जयंती के दिन वह आई० एन० टी० यू० सी० में गया था। वहाँ से आपको मदद मिल जायगी। धन्ना सेठ उनको खूब पैसे देता है, उनकी यूनियन को!

जब यह खबर आई० एन० टी० यू० सी० के पास पहुँचाई गई—बोले! कौन कामरेड लाल खाँ कह रहे थे? मैं चैलेंज करता हूँ कि वे जरा इस बात को सिद्ध तो करके दिखायें। हमारे हिसाब किताब बिल्कुल साफ...हमें रूस और चीन से पैसा नहीं मिलता!

और कम्युनिस्ट यूनियन ने यह सुन कर चैलेंज फेंका—'यह सरासर गलत है। यह अमुक-अमुक रूसी साम्यवादी नेता की पुस्तिका पढ़िये—इस में साफ लिखा है—हमारा राजनैतिक मत 'एक्सपोर्ट' नहीं किया जाता। हमें विदेशी मदद जरा भी नहीं मिलती?

मिलती है
नहीं मिलती
मिलती है। मिलती है।
नहीं मिलती। नहीं मिलती।
मिलती है। मिलती है। मिलती है।
नहीं—नहीं—नहीं मिलती!

स्वदेशी मदद—विदेशी मदद—स्वदेशी-विदेशी मदद—मदद—खुदमदद—बाहर की-घर की मदद...

इसी बहस में एक दिन मुफ्त वार्ड में से केशो का शव उसकी पत्नी के हवाले कर दिया गया। शायद मुर्दा फूंकने लायक पैसा मिल वालों ने दे दिया था।

मरते समय मांगीराम को बुलाया। वह नहीं आया।

मांगीराम जो पहले मिल की हड़तालों में 'दादा' होता था—कनो से आमां कांट्रैक्टर युद्धकाल में बन गया था। खूब रुपया कमाया उसने। और अब वह प्रांतीय चुनाव लड़ रहा था। स्वतंत्र उम्मीदवार बनकर। उसका इलेक्शन मैनिफेस्टो था—

माँगीराम को वोट दो!

मजदूरों को मांगीराम जी और छुट्टी दिलवायेंगे।

मांगीराम जी बलाइयों को सवर्णों के बराबर बना देंगे।

माँगीराम जी और सेठ जी नयी मिल को साझे में ले रहे हैं। उसमें मजदूरों के भी शेअर रहेंगे!

माँगीराम को ही वोट दो—वह किसी यूनियन में नहीं है! वह तुम्हारे धर्म की रक्षा करेगा? वह गाय का भक्त है और उसने कक मजदूरिन से शादी की है!!

माँगीराम को वोट!
डंके की चोट!!

मनोहर यह सब सुन चुका है। सोचता है—'यही दुनियाँ का चक्र है? कैसा अजब यह सांचा है—और अजब है इसे घुम. वाला पहिया!

सांच-झूठ का यहाँ पता नहीं है। एक ही कर तराश लिए जाते हैं। कोई खराद चढ़ा

चढ़े जा रहे हैं, कि गिरेंगे अगले छन, भान नहीं है। चढ़े जा रहे हैं, सिर्फ उतरने के लिये!

मनोहर की जेल में जो विचारधारा थी वह अर्धसुप्त, अर्धचेतन उन्मद, विशृंखल थी। पर यदि उनका कोई ग्राफ बनाया जाता तो वह कुछ इस प्रकार से होता : नौलखा गार्डन में पानी के झरने, बांस के झुरमट, मिल की दुनियां में आने वाले तेल और कपास और कोयले की मिश्रित गंध; घुटनों तक कीचड़; स्टेशन के आस-पास रखे हुए पत्थर और मिट्टी के ढेर; अपने बच्चों को बुखार चढ़ने पर भयभीत हिरनी सी कातर दृष्टि लेकर आयी हुई, भिखमंगिन जैसी याचना भरी दृष्टि से गिड़गिड़ाने वाली मजदूरनी रखमा; कामरेड मुनीरखां की खशखशी डाढी और हर बात पर गर्दन को झटका देकर यह कहना—गोया, इन्शाल्लाह!; दैनिक पत्र के एक मरियल संपादक की गढे में धंसी हुई आंखें; हिंदी कवि का भांग पीना; राजकुमार का प्रेम-प्रकरण बम्बई में एक पारसी औरत ने उसे कैसे झांसा दिया फोटो खिचवा लिए और अब कैसे रुपये बराबर मांगती चली आ रही है; खद्दर की टोपी पहनने पर मास्टर दीनदयाल के साथ सख्ती का बरताव; ओझा-गिरी; गांववालों में चलने वाले तावीज और गंडे, इंजेक्शन लेने से उनकी झिझक...

एक दूसरा दिवास्वप्न-चक्र: मुसंबी का रस, छोटे यखदाचक्र चरखे पर महीन काता जाने वाला गीता का श्लोक, जिसे एक सिनमा का भद्दा सा चीखने वाला गाना आंख मार रहा है; पर तेल सने वालों में चिपकी हुई पुरानी मटमैले रंग की टोपी के नीचे से झांकनेवाला केशों का उदास झुर्रियों भरा चेहरा, जैसे बर्र का छत्ता हो, कार्नीवाल में तैरते हुए बत्तख के खिलौने पर फेंकी गोल्ड रबड़ की रिंग···मास्टर का सिंह की आवाज से जूझना—बख्तावरसिंह रजपूत

मिल का पहरेदार, कानके छल्ले, उदयपुरी पीली पगड़ी की बांकदार बंटों के नीचे घागरा सत्तामन कलियों का—निश्वास भरा कुसुंभो—कुंभो का कठोतरी वाला बोनोस—नोबस—ट्रिंगट्रिंग फोन का कभी न मिलनेवाला नम्बर—बाढ से विजयनगर में सेठ घबड़ाकर मिल के भोंपू पर ही चढ़ गये—भट्ठी बुझी थी, नहीं तो बदन झुलस जाता—सिंदुरवदनं—आल्हा रामायण, मात्र—मजदूरी—भत्ता—ओवरटाईम—ओवर कोट; पठानकोट, फरीदकोट, कोटला—कोटि कोटि कर खरकरवाले—अनाज का कोटा-टन्-टन्-टन...

रात के तीन बजे—टीन बजे—मनोहर जब से इस सालिटेरी सेल में आया है, जेल वाले उसे एक सौ तिरयालीस नम्बर का कैदी बना कर उसके व्यक्तित्व को मिटाना चाहते हैं—पर मनोहर है कि उसका व्यक्तित्व यों दबाने से मिटता नहीं, उभरता है।

सालिटेरी सेल में देश-काल की सीमाएं टूट गई हैं—एकदम छायावादी कवि की सी ऊर्ध्वचेतनात्मक कुहेलिका है या मधुशाला का आनंद है—कोई अपराजिता विजनवती आंखों में विसर्जन कर रही है—लिबलिबे शब्दों की, घिसे-पिटे अलंकारों की; जिसकी जरी उड़ गई है उस बुढ़िया वेश्या-सी किनखाब की सिर्के जैसी फिर से जवान बनने की जरत्कारु कोशिश—मनोहर, यही तुम करते तो अच्छा होता! यह 'साहित्यिक सन्निपात' तुम्हें क्या सूझा? क्यों है यह तुममें रूढि से भिन्न जाने की इच्छा?...

न जाने कहां-कहां की यादें आ रही हैं?

कवि मुरारी तो सांईबाबा के आश्रम में पहुँच गये। उसके पहले हस्तालीन के स्तुतिगान गाते थे। उनके लिए कोई फर्क नहीं पड़ता—आराध्य कोई जरूर होना चाहिए—अपने ऊपर जिन्हें भरोसा नहीं होता

वे खूंटियां ढूंढ़ते फिरते हैं—उधार मांगता हूँ—मैं प्यार मांगता हूँ—
बाजार मांगता हूँ—
अंगार मांगता हूँ—
बेकार मांगता हूँ—
बेतार मांगता हूँ—

इस तरह तुकों की चौखट तैयार कर ली—बीच में कुछ भी लिख दो—हिंदी में 'गीत' कहलायेगा—पर बजाय गीत लिखने के मनोहर गीता पढ़ने लगे—जिंदगी के कम्पोजिंग में गलत टाइप लग गया—इसलिए पूरी किताब प्रूफ की गलतियों से भर गयी।

न जाने क्या-क्या याद आ रहा है ?

मन कैसे-कैसे बिखर रहा है—असंबद्ध प्रलाप की तरह शब्दों की मणि-माला टूटकर बिखर गयी है—व्याकरण की रीढ़ टूट चुकी है—वर्तनियों का पारा कभी-इधर कभी-उधर फैल-फैल रहा है—फिर भी कोई चीज है जो उनकी आशयपूर्णता को थामे हुए है, जो उसमें अर्थ फूंकता है—आनंदवर्धन—तुमने ठीक ही कहा था—पर तुम आज मेरे लिए दुखवर्धन बन रहे हो। क्या विसंगति में संगति खोजने और पैदा करने का नाम ही 'निर्मि'ति नहीं है ?

असहढिए वि तहसण्ठिए व्व हिअआभिम जा णिवेसेइ।
अत्थविसेसो सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी ॥

मनोहर ने सोचा: यह सब काव्यशास्त्र की बातें इस बड़े शारीरिक दर्द के आगे कहां ठहरती हैं ? यह सालिटेरी सेल ! यह नम्बर १४३-एन ! यह ठिठुरता हुआ जाड़ा—यह व्यक्ति का मात्र वैयक्तिक, घोरतर एकान्त—एकला चलो—एकला चलो—चेकला एलो—चेलों के 'चेलो'—

जवे ताहार डाक केउ ना शूने...

'डाक' यहां किसकी पहुंचेगी ? मानव मात्र का 'दुक्ख' अब एक वेरंग डाक की तरह है उसका अता-पता नहीं चलता ये कला के बुद्ध उस दुख की कारणमीमांसा में जंगल छान रहे हैं ? निगंठ सारिपुत्र, मक्खलि गोसाल, अजित केशकम्बली, अडार कालामा—इन सबसे पूछ पूछकर हारे—इस दुख का कारण—मूल नहीं मिला—और बुद्ध बनकर लौटे।

ये कला के ईसा कई लोग अपनी शूली खुद कंधे पर लादे घूम रहे हैं। कीलें भी हैं, जूडास भी हैं, कांटों का मुकुट भी है—पर ईसा ही नहीं है, वैसा अपार धीरज किसी में नहीं है—ये तुनुकमिजाज और बात-बात पर गुस्सा होनेवाले पीडा में जग को ढूंढेंगे, या जग में पीड़ा को ? ये सिर्फ गधे पर सवारी करके नपुंसक भाव से हिरोशिमा और नागासाकी को देख रहे हैं—बिकिनी और व्लादीवोस्तोक् को, गोआ और कोरिया को...

ऐसे विश्व में यह मनोहर जीं रहा है। क्या उसे दंड का डर नहीं है ? जेल का सालीटरी सेल का ?

हम निरंतर डरते आ रहे हैं। इससे उससे अज्ञात और अदृश्य और अश्रव्य और अस्पर्श्य से—पर अपने आपसे नहीं डरते ? अपने स्वयम् के भीतर घर करने वाले इस पाप से—जोकि मौत से भी खौफनाक है; चूंकि मौत के बाद का कौन जानता है ? पर जिंदगी में यह क्षण-क्षण की मौत—

अस्तित्व को अनस्तित्व में मिटाने वाला यह दुर्बल-संकल्प, जो सहज व्यक्ति को, व्यक्तियों की संस्था को, राष्ट्र को, सबको सांचेमें बदल देता है—यह यांत्रिकता का मोह—यह सरलता से अधिक सरलपन की ओर

जाने की वृत्ति—यह साहस का अभाव—यह नित्य का डर—यह क्यों ? किसलिए ? किसका ?...

सवेरा होने आया। ब्राह्ममुहूर्त शायद सभी वर्णों के लिए मुहूर्त-मात्र है—यह चिरं धूमायितः की शुरूआत...

श्रवण नयनमय नयन श्रवणमय—श्रवणक पथ दुहुँ लोचन गेल—दृष्टि-श्रुति के पंथ कहाँ हैं ? दो-सब झाँई-कुहरा प्रकाश छायासात सुरोंकेरंगपुटों के बीच कहीं पर श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त दीवार है—

मा कुरु

मा कुरु

मा कुरु

विधि-निषेध की माया—आत्मा बड़ी ही सालटेरी 'सेल' में पड़ गई, बेचारी !—वह क्या सोचे-न-सोचे—उसकी संवेदना के द्वार बंद है—उनकी मुक्ति पर बंधन है—उनकी नीति पर कोड़ है—कवानीन-धारायें—सुप्रीम अब्सोल्यूट - ला, ला, ला—लल—ललला··ला, मीना भर साकी, मुझको लाल-लाल हो जाने दो—

लाल रक्त का ? लाल अधर का ? लाल मद्यका ? जाने दो!—

किसी शराबी की बहक से बढ़कर इन पंक्तियों का क्या मूल्य था ? पर लाल राजनीति का नशा ? दिनशा कामरेड ने कहा कि 'रेड' करना जिनका 'काम' है ! पर फिर ये शान्ति और विश्वमानवता और भाई चारे की बातें इतनी मीठी-मीठी क्यों करते हैं ! भाई, सीदे कह दो कि हम भी वही सब तरीके अपनायेंगे, जो दुश्मन के हैं—जंगली आदि वासियों में यही होता है—खून का बदला खून—मुंड का बदला मुंड—पर वे बहतर हैं कि खुलकर कहकर प्रतिशोध लेते हैं—पर यह क्या किस्सा है कि इन सांचों के डायनेमो कहीं और हैं—

मनोहर ने मन ही मन में कहा चाहे टूट जाऊंगा, सांचा नहीं बनूंगा – शरण नहीं जाऊंगा—यह प्रपत्ति उनकी हो जो अपने भरोसे पर नहीं हैं - हम अपने तईं काफी हैं—हर आदमी एक विश्व है—एक पूजनीय सत्ता है !

पास के वार्ड से कोई अथर्ववेद पढ़ रहा था, गंभीर, संयत, स्वरों में—

अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्तात् ।
उत्तराद् अधराद् अभयं नो अस्तु ॥
अभयं मित्रात् अभयं अमित्रात् ।
अभयं ज्ञाताद् अभयं पुरो यः ॥
अभयं नक्तम् अभयं दिवा नः ।
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

सवदोस्तदुश्मनसवदोश्मनस्तदोमनश्तवसपोश्मदुंस्तनश्मवदोस...

जेल के जंगले के ताले में चाभी घुमाई गयी—साली—टरी रसेल—भारी बूटों की चाप–ममी-प्रेतों और फ्रैंकेनस्टाइनों की मार्चिंग–मार्चिंग–मार्चिंग—डालिंग–डालिंग–डालिंग–धिङ्–धिङ् —ट्रिंग–ट्रिंग–ट्रिंग–त्रिकोण–रेखा-अनेक बिंदुओं से बनकर मिलने वाले कांसेंट्रिक सर्कल्स, एक को एक काटते बढ़ते जाते हुए कई वर्तुल–मिल के भोंपू का मुख–कोयले और धूंए से काला-शार—भम्भभ धुंए की रजाइयां उड़ाता हुआ–कृष्ण गोपाल हेड जाबर का पाइप—लाल लाल आंखें—इंजीनियर झाबवाला की सुनहरी मूंछें और गंजी चांद–चांद खां—जंग खा गया हुआ गंजड़ चाँद—चंदर र्‍-र्‍-र्‍-र्‍—फोकसवाली कांच बड़े-बड़े होते जाते हुए टाइप–खाने की थाली छन्न से आ गिरी—छिः मैं कोई मक्खी हूँ जो खाने पर मंडराई...खाना और पाखाना...

(थोड़ी देर के लिए मनोहर को झपकी आ गयी)

सपने में वह और भी विचित्र गतिमय दृश्य देखने लगा—भागते हुए पहाड़, बालू के ढलान, झाड़ियां. झंखाड़, कांटे की बागड़, तोपें, सिपाहियों के टोप, पीठ में भुंके हुए छुरे–मनुष्यता के नाम पर चिल्लपों मचाने वाले पोंगापंथी-तुंदियल, त्रिपुंडधारी, खसखसी दाढ़ी के मुसलमान या तुर्रेवाली लाल ऊंची टोपियां पहने हुए ऐयरायंगार —पीछे चोटी के जूड़े, नंगे बदन. उपरने—उपमाओं की धूम–सुन्दरी की आंख, दूध पीते बच्चे के होठों पर दूध की बूंद—धान की फसल–लाल काली मिट्टी–कृष्णा नदी —गोमती–शांती–पगोड़ा–पिनें चुभाने का गुदगुदा पिनकुशन और कीलें जिनके बदन पर ठुकी है ऐसे दंगे की चपेट में पड़े निरीह मानव······

पत्ते झर झर रहे हैं। पेड़ों को पंख लगे हैं। चादर गले तक ओढ़े वे उड़ें जा रहे हैं, जड़ें ऐसी लगती हैं जैसे हवाई जहाज के नीचे लटके हुए छतरीधारी हों– स्याहीसोखों के पूरे कनिस्टर जिनमें जितना भी खून डाला जाय– -गायब—अजब जादू ! आंख में पुतली की बजाय सोने की गोली–दांत में सुरमा–बहुत बड़े·बड़े सूप जैसे कान और वे हाथी के न होकर और किसी युग के मनुष्य के ! हविष्य के बचे हुए भाग ! पीलेजामुनीहरेगुलाबी–गुलाम—गुलाब जामुन—जामुनी गुल–गुलगुले पी ले, पी ले ऽऽ मुनि हरे-हरे ! झरे झरे झरे···पातार आलो, पाथर डालो, डालर पालो, लोपाडोरा रोथा ···

ऐंठन - बदन के, जोड़ जोड़ में ऐंठन—हाथ पैरों में ठिठुरन, विस्मरण—जाड़ा पाला–हिमवत्—वत्रिशीकरबरफानाठंडा–पत्थर पर कंबल में से हड्डी में भिदनेवाला जाड़ा–इस वक्त शिमले में बर्फ गिर रही होगी–काश्मीर की झीलों पर शिकारे जकड़े होंगे–सब ओर मुरद नगी–सफेदी–फैल गयी होगी–सिमेटरीकफनधवलिमा इस सफेद पर काला दाग–वेश्या–श्वेतकमलपर भृंग–चांदमारी–कागज के बड़े बड़े

गत्ते पर एक छेद—दीमक—दीमाक ही तुम लोक को नेई है ! तुम शोव पागल है—पागल। फेल कर गयी सेरेबेरल हेडक्वार्टर्स में हड़ताल है—बिजली बंद, कारखाने में कोई नहीं है, शिकारखाने में कोई नहीं है—जंगली सूअर घूम रहे हैं, हाँके वालों के ढोल फोड़ दिये गये हैं। कैलेण्डर में अब के क्या दिसम्बर में वसंत आया है। अच्छा है—शिकार को कोई भी वक्त अच्छी है—उठो साथियो ! सात बज गया, चा खाने का बोखोत हुआ—पर रूस में तुम नहीं जानती माकिनी, जाड़ा महसूस नहीं होता। उदक की तरह वद्का—वहां बहुत गर्मी महसूस करानेवाली चीजें हैं—अच्छा खाना ओढना—हर मजदूर के पास एक ऊर्वशी, दो रंभा, तीन पुलोमा, चार कुबेर, छह कल्पवृक्ष, सात सब्जबाग, आठ कारूं का खजाना होता है—मालूम ? जादू का मुलक—वहां चिरागे—सतालीन है। समझा—चीन को चिन् चिन् कर दिया—टिचन कर दिया—चार दिन में चार हजार बरस को भुलानेवाली धर्म से भी बड़ी अफयून उनके पास है—राजनैतिक अंधनिष्ठा—विवेक की ऐसी तैसी—संस्कृति ? विकृति। खुदा ? खब्त ? दयानत ? ख्वाब—सब साधन जायज हैं, बशर्ते कि एक बड़ा साध्य हो—व्यक्ति बिचारा महास्टेट के चरणों में है मिलिंदायमाना लीना—सा विरहे अति दीना—मोलोतोफ मुरारे ! जय कुजोमोव हरे !—नामों का तो रूप निरा है नामरूप का चक्कर जैसे साँपनाथ वैसे नागनाथ—फर्क क्या पड़ता है ? मैकार्थीय मुरारे ! जय आईजीनाव हरे ! डमरू डमरू डम् डम् डम् डम्—हयवटस—झऋृगङ् छठ पथ—इति मिनिस्टराणि सूत्राणि—पंचाक्षर—मंत्रात्मकोझामोरीनोत्पलसंभवचतुर्मुखप्रजापतयेनमः —

प्रलय

तांडव

डेल्यूज

कयामत

सपने में वह और भी विचित्र गतिमय दृश्य देखने लगा—भागते हुए पहाड़, वालू के ढलान, झाड़ियां, झंखाड़, कांटे की वागड़, तोपें, सिपाहियों के टोप, पीठ में भुंके हुए छुरे–मनुष्यता के नाम पर चिल्लपों मचाने वाले पोंगापंथी-तुंदियल, त्रिपुंडधारी, खसखसी दाढ़ी के मुसलमान या तुर्रेवाली लाल ऊंची टोपियां पहने हुए ऐयरायंगार –पीछे चोटी के जूड़े, नंगे बदन, उपरने—उपमाओं की धूम–सुन्दरी की आंख, दूध पीते बच्चे के होठों पर दूध की बूंद—धान की फसल–लाल काली मिट्टी–कृष्णा नदी –गोमती–शांती–बगोड़ा–पिनें चुभाने का गुदगुदा पिनकुशन और कीलें जिनके बदन पर ठुकी है ऐसे दंगे की चपेट में पड़े निरीह मानव······

पत्ते झर झर रहे हैं। पेड़ों को पंख लगे हैं। चादर गले तक ओढ़े वे उड़ें जा रहे हैं, जड़ें ऐसी लगती हैं जैसे हवाई जहाज के नीचे लटके हुए छतरीधारी हों–-स्याहीसोखों के पूरे कनिस्टर जिनमें जितना भी खून डाला जाय–-गायब—अजब जादू! आंख में पुतली की बजाय सोने की गोली–दांत में सुरमा–बहुत बड़े-बड़े सूप जैसे कान और वे हाथी के न होकर और किसी युग के मनुष्य के! हविष्य के बचे हुए भाग! पीलेजामुनीहरेगुलाबी–गुलाम—गुलाब जामुन—जामुनी गुल–गुलगुले पी ले, पी ले ऽऽ मुनि हरै-हरै! झरे झरे झरे···पातार आलो, पाथर डालो, डालर पालो, लोपाडोरा रोथा ···

ऐंठन - बदन के, जोड़ जोड़ में ऐंठन—हाथ पैरों में ठिठुरन, विस्मरण—जाड़ा पाला–हिमवत्—वत्रिशीकरबरफानाठंडा–पत्थर पर कंबल में से हड्डी में भिदनेवाला जाड़ा–इस वक्त शिमले में बर्फ गिर रही होगी–काश्मीर की झीलों पर शिकारे जकड़े होंगे–सब ओर मुरद नगी–सफेदी–फैल गयी होगी–सिमेटरीकफनधवलिमा इस सफेद पर काला दाग–वेश्या–श्वेतकमलपर भृंग–चांदमारी–कागज के बड़े बड़े

गत्ते पर एक छेद—दीमक—दीमाक ही तुम लोक को नेई है ! तुम शोव पागल है—पागल । फेल कर गयी सेरेबेरल हेडक्वार्टर्स में हड़ताल है— बिजली बंद, कारखाने में कोई नहीं है, शिकारखाने में कोई नहीं है— जंगली सूअर घूम रहे हैं, हाँके वालों के ढोल फोड़ दिये गये हैं। कैले-ण्डर में अब के क्या दिसम्बर में बसंत आया है। अच्छा है—शिकार को कोई भी वक्त अच्छी है— उठो साथियो ! सात बज गया, चा खाने का बोखोत हुआ—पर रूस में तुम नहीं जानती माकिनी, जाड़ा महसूस नहीं होता । उदक की तरह वद्‌का— वहां बहुत गर्मी महसूस करानेवाली चीजें हैं—अच्छा खाना ओढना—हर मजदूर के पास एक उर्वशी, दो रंभा, तीन पुलोमा, चार कुबेर, छह कल्पवृक्ष, सात सब्जबाग, आठ कारूं का खजाना होता है—मालूम ? जादू का मुलक—वहां चिरागे—सतालीन है। समझा—चीन को चिन् चिन् कर दिया—टिचन कर दिया—चार दिन में चार हजार बरस को भुलानेवाली धर्म से भी बड़ी अफयून उनके पास है—राजनैतिक अंधनिष्ठा—विवेक की ऐसी तैसी—संस्कृति ? विकृति। खुदा ? खब्त ? दयानत ? खाब— सब साधन जायज हैं, बशर्ते कि एक बड़ा साध्य हो—व्यक्ति बिचारा महास्टेट के चरणों में है मिलिंदायमाना लीना—सा विरहे अति दीना— मोलोतोफ मुरारे ! जय क्रुजोमोव हरे !—नामों का तो रूप निरा है नामरूप का चक्कर जैसे साँपनाथ वैसे नागनाथ—फर्क क्या पड़ता है ? मैकार्थीय मुरारे ! जय आईज़ौनाव हरे ! डमरू डमरू डम् डम् डम् डम्—हयवरस—भञमणङ् छठ पथ—इति मिनिस्टराणि सूत्राणि— पंचात्तर—पंचमंत्रात्मकोभ्फामोरीनोत्पलसंभवचतुर्मुखप्रजापतयेनमः —

प्रलय

तांडव

डेल्यूज़

कयामत

महानाश—फिर से सृष्टि—वही पीपल के पत्ते पर अंगूठा चूस रहे हैं जनाब ? वाह, भाई वाह ! हम तो जुग जुग के हैं जाने, जनम जनम पहचाने—हरिबोल ! हरिबोल ! हॉरिब्ल हॉरिब्ल ! हुर्राह !

घोड़े पर घोड़े—आदमी पर आदमी, ठट्ठ के ठट्ठ, घोड़े पर आदमी; घोड़े के नीचे आदमी, आधा घोड़ा—आधा आदमी—वाज—स्नेयी—वाजपेयी—अश्वमेध—मेधा का हंसना घोड़े जैसा था—हिनहिनाहट लिए हंसी—घुंघराले बाल और शराब के दौर—बेकारी के दिनों में जर्नलिस्टों के साथ बिताये हुए मुट्ठी भरे चने पर फाके ! फाका—खाका—बाँका—ढाका-शलाका—शस्तोविच—कट्ठुश्का ! उनिजेनन्ये इ आसकोरब्लीनन्ये... प्रेस्तूप्लेनो इ नकजानो, जाविस्की इज मोरत्वोगो दोमा—इडियट !

खंडित मानव··खंडित दृष्टि··अखंडित दृश्य··अखंडित पशुता—जैविक दैहिक दैविक तापा। रामराजमंह तुलसी काँपा ! ··छिन्न-भिन्न क्या ? अविच्छिन्न क्या ? औ, अभिन्न क्या ? मजदूर की बासी रोटी की गठरी, पुटलिया, किसान के घर की छाछ बिलोती मथनिया, खेतों पर बहने वाली आहिस्ता हवा, प्यार के मीठे-मीठे वादे या स्टेनगन से तडतडतडतडतडतड तड चलने वाली गोलियों की बौछार, या गाली की मार या गलियां चक्करदार या सर्पिल गलहार··

ठंडा·····

डंडा !···

पंडा—एरंडोपिद्रुमायते—पुजारियों का जारज जारी जपु— जी जी पुर—काठकापहियुल्नवकलेवरकटकामलध्वजजरादिसों लागली—नहीं न हां न नहीं नहान हनन··

(थोड़ी देर से फिर जंगले का फाटक खुला। थाली ज्यों की त्यों पड़ी है। कुकड़ूँकूँ नंबर एक सौ तिरालीस को एक बैटन से छुआ गया—कहीं मर तो नहीं गया ठंड के मारे)

एक बाल बढे हुए खूँखार चेहरे से गढे में धंसी अंगूर-सी आँखें—सारी व्यवस्था को जैसे चुनौती देती-सी।

एक धुडकती हुई आवाज़—'खाना क्यों नहीं खाया ?'

'अच्छा नहीं लगा !'

(नकल उतारते हुए) 'ऐच्छा नेई लैगा ?—तेरी सुसराल है ये ?……(दो गालियाँ) मर जाना चाहता है ? अभी पूरी पिटाई नहीं हुई है शायद !'

'पिटाई से आप समझते हैं कि खाना अच्छा लगने लगेगा ?'

'यहाँ समझने-उलझने का सवाल नहीं। खाना पड़ेगा। नही तो जबरदस्ती ठूंसकर खिलाया जायगा !'

'जीने की भी जबरदस्ती है ?'

'बहस मत करो ! कांस्टेबल—कोड़ा लाओ !'

सांचे की तरह, यांत्रिक ढंग से दो कौर मुंह में चले गये—जेल का सुपरिंटेंडेन्ट लौट गया।

फिर अकेला, अंधेरा, सील भरा कमरा और विचारशृंखलाएँ…… लिज़ा ने कहा था कि दुख किसी को अकेला नहीं रहने देता—पर शायद अकेलापन अपने आप में एक दुख है। लिज़ा ने कहा था—एक दिन तुम पागल हो जाओगे। इतना दर्शन क्यों पढ़ते हो। दुनिया दर्शन नहीं, प्रदर्शन चाहती है। लिज़ा ने कहा था—तुम्हारे और मेरे बीच सात समुन्दर लहराते हैं—नीले-काले-लाल समुद्र—लिज़ा ने कहा था—आँसू की एक बूंद, समुन्दर से बड़ी है। उसमें पछतावे के आंसू की बूंद की ताकत समुद्र के तूफानों से बढ़कर है…

पर क्या इतने बर्बर अत्याचार—दंगे, युद्ध, सामूहिक मानवहनन करने वालों की आत्माएँ बधिर हो चुकी हैं—निर्लज्ज और पथरायी

ईहु। वहां विवेक का देवता क्या अनन्त काल के लिए शेष शय्यापर शयन करता है !

मनोहर ने सोचा—यों कुछ नहीं होता—शायद पुराने जमाने की बातें कुछ मदद करें —अगले वक्तों के हैं ये लोग, इन्हें कुछ न कहो—पर उन्हीं अगले वक्तों के मसीहाओं और देवताओं, पैगम्बरों और वीर-वरों के नाम ले लेकर तो सारी मारकाट हुई—इतना खून-खराबा, इतना रक्त-विनाश !

उफ्‌ ''बला की सर्दी है।

कोई दूर से गा रहा है—जेल की दीवारें और सींखचे फांदकर भी गाना क्यों यहां तक चला आता है। साफ सुनायी दे रहा है। मनोहर सुनता रहा।

''ऊधो जी तुम सखा सयाने जानत हाल मुरारी कौ
छलिया आय अगारी कौ।
नेह लगाओ, नहीं निभायो।
आपुन जाय विदेसों छायो।
जब से गयो तब से नहिं आयो॥
कौन विचार मुरारी कौ।
छलिया आय अगारी कौ।
सोरा सहस आठ पटरानी,
देखो उनखों नहीं सुहानी।
कुबिजा सी पाई मन मानी।
ताकी करनी सब जग जानी।
भयौ और फुलबारी कौ।
छलिया आय अगारी कौ।

अपनी बीती कीसें कहिये,
सांच सांच मन ही मन रहिये।
जागत जागत रैन गमइये।
कैसे जिय अपने समझइये।
जौ फल पाये यारी कौ,
छलिया आय अगारी कौ।

विरह विथा बाढ़ी बहु तन में
भर भर उनठत नीर नयन में।
खान पान न भावत दिन में।
सूनो सौ लागत है मन में।
रैंधौ अटा अटारी कौ॥
छलिया आय अगारी कौ।

ऊधौ जी कहिये जा मोरी।
करकें प्रीत काये हरि टोरी।
देवें दरस आय ब्रज ओरी।
बन्दत प्यारे जू कर जोरी।
सरनागत गिरधारी कौ।
छलिया आय अगारी कौ।

मनोहर के मन में वह पंक्ति जैसे बस गई—'सांच-सांच मन ही मन रहिये ! क्या सच्चा कभी कहा नहीं जा सकता ? या कहा नहीं जाना चाहिये ? या मन की बनावट ही ऐसी है कि सच्चा वह अंदर ले तो सकता है—पर किसी को बाहर दे नहीं सकता। क्या कहा जाय ? और क्या न कहा जाय ? क्या मन की विथा मन में ही छिपा कर रखें—जैसे इस सालीटरी सेल में मनोहर के मन के भाव—लिख दो

सच सच तो कहेंगे क्या ऊलजलूल, ऊटपटांग, बेकार की बातें हैं जिनका सिर न पैर, न आदि न अंत, न अर्थ न इति—और न लिखो तो फिर घटना–चक्र वाले अनगिनत उपदेशप्रधान पोथन्ने हैं ही !

क्या इतना शोर है कि कोई किसी की नहीं सुनता !
या इसलिए नहीं सुनता कि सुनकर भी क्या कर लेगा ?
या सुनना पर्यायवाची कुछ कर लेने का है ?

जेल में एक पागलराम रहते थे। जो बीच-बीच में गाने की धुन आते तो पद गाते उनकी कर्कश, साफ, ऊंची आवाज सींखचों को पार करके सुनाई दे रही थी। मनोहर की विचार धारा टूटी—

कोई बिल्ली कोई बगुला देखा
पहिरे फकिरी खिलका।
बाहर मुख से ज्ञान छाँटते
भीतर कोरा छिलका।
पढे लिखे कुछ ऐसोहि वैसो
बड़ा घमंड अकिलका।
क्या कहिये गुरुदेव, न पाया
मरहम आंख के तिलका !

'साँचा' : पीठिका

पहले पीठिका शब्द के बारे में :

पीठिका मूर्ति, शिल्पकृति की होती है। मूर्तिकला के लिये प्रख्यात हमारे देश में उसका इतना ह्रास हो चुका है कि आज हम मूर्ति के बजाय मूर्ति बनाने के सांचे को ही पीठिका दें।

वाद्य टूट चुके हैं; गायकों के कंठों में सिंदूर पड़ गया है; श्रुतियां सिनमा के पोस्टरों पर टँगी अपने नंगे अंगों का प्रदर्शन कर रही हैं; आरोहावरोह की किसे सुध है; ऐसे जमाने में हम संगीत के बजाय तबला ठोकने वाले हथौड़े को ही पीठिका दें !

चित्रकला में धार्मिक निष्ठा से; अमिताभ के ध्यान में निरत लक्ष-लक्ष भिक्षुओं ने जिन भित्ति चित्रों को अजंता का आकार दिया, उन के बाद बर्बर सेनाओं ने बाग की दीर्घाओं में चूल्हे डाल कर खाने पकाये और भित्तिचित्र उखड़ गये—यह देश-प्रदेश विजित करने की दूसरे प्रकार की विकृत निष्ठा थी—अब चित्रों के बदले साबुन या माचिस की डिबियों और टीनों के ऊपर के भडकीले पोस्टरों का जमाना है; कई चित्रकार तो जैसी दुनिया है उससे इतने ऊब गये हैं कि उन्होंने त्रिकोण-चतुष्कोण और 'रोंबस' में अपनी कल्पना का अमूर्तविधान पाया है—ऐसे समय हम कोरे फलक और चित्रों को फाड़ने वाले पॅलेट-नाइफ को ही पीठिका दें !

होते होंगे भरतमुनि के जमाने में नृत्य के लिये नियम, अब तो कथकली पर रूसी बॅले का कलम करके एक नए ढंग की हूला-हूला कला निर्मित हो गयी है; क्यों हो कत्थक या भरत नाट्यम् के व्यक्तिगत

चरण-विन्यास या हावभावों को महत्त्व—अब तो मंत्र-युग है जबकि व्यक्ति का नाम लेने वाला कैसे जिंदा रहने दिया जा सकता है ?—अतः ऐसे युग में हम नृत्य की नवधा में से एक कला के बदले टाँगें उछालने से पहले जो ऊँची एड़ी के जूते हैं उन्हें ही पीठिका दें।

और बेचारी कविता ?—सरस्वतीके वीणा झंकारके दकियानुसी छंदानुप्रासादि काव्यानुशासन क्या लिये बैठे हो—उसमें तो लेक्चर पिलाने से लगाकर मैनिफेस्टो लिखे जा रहे हैं, बेचारे गीतों को भालों की तरह भाँजा जा रहा है—यह गौण और बेमानी है कि भालों की नोकें किस की ओर तनी हैं ; शांति का प्रचार इसी तरह किया जाता है, जितना अधिक शोर उतनी अधिक शांति ; जितना अधिक पिछोरना उतना 'दाना' (या भूसा ?) ; कविता के नाम पर गलेबाजी, तीतर-बटेर की तरह शेर लड़ाना, मत-वादों का प्रचार और सब कुछ किया जा सकता है जो अ-कविता है—केवल शुद्ध कविता नहीं लिखी या सही जा सकती ; ऐसे समय हम कविता के बजाय घटिया भड़ौओं और हजलों को या फिर घिसी हुई ग्रामोफोन की रेकार्ड को पीठिका दें !

ऐसी विचारधारा, ऐसे सामूहिक नारों का जब नक्कारखाना बना रहे हो, तब तूती की आवाज से हम कहना चाहते हैं कि कला के क्षेत्र में यह कवायदवादी पद्धति अब ज्यादह नहीं चलेगी !

हम सीधे-सीधे कहना चाहते हैं कि सांचे में आप मिट्टी के लोंदों को ढाल लीजिये, आत्मा का यांत्रिकीकरण संभव नहीं। जीवन्त की जीवन्तता भी शेष रहे और उसका सामूहीकरण भी हो जाय—यह सम्भव नहीं। सारे विश्व में साहित्य और कला इस कृत्रिम 'मेकनाइजेशन' के खिलाफ विद्रोह कर रही है ! डी० एच० लारेन्स ने घोर शब्दों में